मन्त्रे सिध्यति तदा कथं न देवत्वं मन्त्रस्य ? भोः, तव पूज्येन उव्वटेनाप्युक्तं 'पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो 'गौश्छन्दः' इत्याद्योः (यजुः १४।१९,२०) मन्त्रयोः अग्निर्देवता वातोदेवतेत्येता वै छन्दांसि तान्यपि छादयन्ति,' । 'अत्र अग्न्यादिभिश्छन्दसामेकरूपता-दर्शनादपि छन्दसां निर्विवादं देवत्वम् । अतो भवताऽपि महनीया महर्षिदृष्टिरनुसरणीया ।

अथापि श्रीसामश्रमी महोदयः ऐतरेयालोचने "तस्माद् वैदिकमन्त्रेषु स्तुता एव पदार्थाः तन्मन्त्रतः स्तुतिकाले एव च देवत्वेन स्तुत्या भवन्ति, नान्येनाऽप्यन्यत्रेत्येव याज्ञिक-सिद्धान्तः । अतएव ते मन्त्रमयी देवतेत्येवस्वीकुर्वन्तीति प्रवादः" (ऐतरेया० पृ. १५१) इत्याह ।

(पृ. ५८६ अनु. १) "किञ्च भवद्रीत्या देवतापदैस्तत्तन्मन्त्रबोधनं व्यर्थमेव, भवता यज्ञे वेदमन्त्रोपादानस्य ईश्वरस्तवनमन्त्ररक्षण-परमात्मास्तित्वबोधादि-फलकत्वेनोक्तत्वात्" इति न सम्यगालोचनम् ।

यतः तद्देवताक-मन्त्र-पाठेन तत्तदर्थबोधनपुरस्सरमपि ईश्वर-स्मरणं मन्त्र-रक्षणं चाऽपि प्रयोजनं मन्त्रोच्चारणस्य, नह्यमन्त्राः यज्ञा

से आदि छन्दों की एक रूपता दिखाई गई है, फलतः छन्दों का भी देवत्व है । अतः महाराज जी आपको भी महर्षि दयानन्द की यह महनीय दृष्टि अपनानी चाहिये ।

श्री सामश्रमी जी अपने ऐतरेयालोचन में पृ. १५१ पर मन्त्रमयी देवता का ही समर्थन करते हैं । जैसे कि-'इसलिये वैदिक मन्त्रों में स्तुत पदार्थ उस मन्त्र से स्तुतिकाल में ही देवत्व से स्तुति योग्य होते हैं, और के द्वारा भी (अन्यत्र) नहीं, यही याज्ञिक-सिद्धान्त है' इत्यादि ।

(पृ. ५८६ अनु. १) आक्षे०.',तुम्हारे (स्वामी दयानन्द के) मत से उस २ मन्त्र का बोधन भी व्यर्थ है, क्योंकि भा० भूमिका में यज्ञ में वेद मन्त्रों के पाठ्य-प्रयोजन, ईश्वर-स्तुति, मन्त्र-रक्षा, परमात्मा के अस्तित्व का बोधन आदि का बताना है' यह करपात्र-कथन ठीक नहीं, क्योंकि तत्तद् देवता वाले मन्त्रों के पाठ से उस उस अर्थ को बतलाते हुये भी ईश्वर स्मरण और मन्त्र रक्षण का भी प्रयोजन है । मन्त्र रहित यज्ञ नहीं करने चाहिये, यह तात्पर्य है ।

किञ्च, यहाँ पर ऋषिदयानन्द ने मन्त्रों और छन्दों का देवत्व बताया है, उसमें हेतु दिया है" कर्मकाण्डविधि का द्योतन' । पारिजात-लेखक इस हेतु

विधेलिमा इति तात्पर्यात् । इह ऋषिदयानन्देन मन्त्राणां छन्दसां वा देवत्वमुक्तं, तत्र हेतुरुपन्यस्तः कर्मकाण्डविधेर्द्योतनात्' इति । अत्र हि लेखकोऽयम् अनेकांतिकतां साधयितुं प्रावर्तिष्ट, परं प्रयासस्तस्य निष्फलः यतो हि 'साध्याभाववद्वृत्तिरनैकान्तिकः' इत्युच्यते, न चाऽयं हेतुर्देवत्वाऽभाववति वर्त्तते, न वाऽपि सर्वसपक्ष-विपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणोऽपि, कर्मकाण्डविधेर्द्योतकत्वात्, तदभावात् न च द्योतकत्वं देवताभ्यो वा व्यावृत्तम् । न चानेकान्तिकभेदोऽनुपसंहारी तल्लक्षणस्याघटितत्वात् ।

तदेवं तव प्रस्तावेन अव्यभिचरिते हेतौ बलात्कार एव, यश्च न संन्यासिनो विषयव्यावृत्तेन्द्रियस्य शोभते ।

(पृ. ५८६ अनु. २) 'यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थ-प्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते,' इह खण्डनप्रयासो विहितः, पुनश्च लिखितं यत् 'अग्निमीडे'० इत्यादि मन्त्रे भौतिकाग्नेरेव ग्रहणं, ततश्च केचिदत्र चेतनाग्निं मन्यन्ते इति कथयित्वा स्वारुचिः प्रकटिता तदिह खण्डनमाचरता भवता लोकोक्तिरेषा समाश्रिताः —

में अनैकान्तिक दोष सिद्ध करने में प्रयत्नशील है पर यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि अनैकान्तिक हेतु 'साध्य के अभाव वाले विपक्ष आदि में रहने वाला होता है । मन्त्र आदि तो देवतायुक्त हैं, क्योंकि वे कर्मकाण्ड विधि के द्योतक हैं । द्योतकत्व हेतु देवत्वाऽभाव वाले में नहीं रहता । सर्व-सपक्ष और विपक्ष दोनों में न रहे पक्षमात्र में रहे, वह असाधारण भी नहीं है और अनैकान्तिक का भेद अनुपसंहारी भी नहीं ।

इस आपके प्रस्ताव से अव्यभिचरित हेतु में आपका व्यभिचार देखना बलात्कार ही है, जोकि विषय-व्यावृत्तेन्द्रिय आप सदृश संन्यासी को शोभा नहीं देता ।

(पृ. ५८६ अनु-२) जिस मन्त्र में अग्नि शब्द और उसके अर्थों का प्रतिपादन है वह मन्त्र अग्निदेवता के रूप में गृहीत होता है' यहाँ पर इसके खण्डन का आपने प्रयास किया है और कहा है कि 'अग्निमीडे' मन्त्र में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण होता है और फिर लिखा है कि कोई यहाँ चेतन अग्नि मानते हैं । आपने कोई कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है, यहाँ आप पर यह उक्ति घटित होती है 'किसी ने दूसरे के लिए खाई खोदी पर स्वयं ही कुएँ में डूबकर मर

अन्यार्थे परिखा खाता, स्वयं कूपे ब्रुडन् मृतः।
जडान्याख्यान-सन्दर्भे, चेतनत्वं प्रदर्शयन ॥

महोदय ! अत्रायं भावो महर्षेः यद् यत्र यत्राग्निशब्दः ईश्वर-वाचकस्तत्र तत्र चेतनत्वं, परं भौतिकाग्निवाचके सति भौतिकाग्नेः चेतन-ख्यापनं तु बालिशत्वमेव।

तथा च सनातनधर्मतिलकः सामश्रमि-महोदयः आहः—"नहि अग्निलोकस्थस्य कस्यचिद् मनुष्यादिवद्विग्रहादिमतः परोक्षस्याग्नेः रश्मिभिः पृथिव्यां स्थापनं युज्यते। इयं पृथिवी एवाग्निलोक इति चेत् दृष्टमेवेदं वचोऽस्माकमपि, परं तस्य पार्थिवस्य पौराणिक-रूपादि-मत्त्वे, प्रत्यक्षता कथं सम्भवेन्नाम ? न त्वपरः क्वापि कश्चिदपि अस्ति अग्निश्चतुर्मुखो हंसारूढो देवः।" अत्र तु सामश्रमिणः अन्तिम-वाक्य-लगुडप्रहारेण कटिरेव भञ्जिता भवादृक्पुराणरूढिप्ररूढमतीनाम्।

यच्च हिन्द्याम्, अग्निशब्दस्य निरुक्ति-प्रसङ्गे 'नीतात् इकार-ग्रहणमिति,तदपि प्रमादजन्यमेव। किञ्च न भूमिकायामग्नीत्यादि-

गया' आप यह कुव्याख्या रूपी खाई खोद रहे हैं, पर स्वयं रूढ़ि के कुएँ में पड़े हैं।

आपका यह कथन कि दयानन्द ने जड़ आख्यान-सन्दर्भ में चेतनत्व का प्रदर्शन किया है; ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर ऋषि का भाव यह है कि जहाँ-जहाँ 'अग्नि' शब्द ईश्वर वाचक है वहाँ वहाँ चेतन, और अन्यत्र जड़ अग्नि का ग्रहण है। विपरीत ग्रहण करना तो मूर्खता ही है।

जैसा कि सनातनधर्म तिलक पं. सामश्रमी जी ने भी कहा है कि "अग्नि-लोक के किसी मनुष्य के समान शरीरधारण करने वाली किसी परोक्ष अग्नि की पृथिवी पर स्थापना युक्तियुक्त नहीं। यह पृथिवी लोक ही अग्निलोक है, यह कथन तो हम भी जानते हैं, पर उस पार्थिव अग्नि में पौराणिक धारणा के अनुरूप अप्रत्यक्षता कैसे संभव है ? और कोई दूसरा अग्निदेव चतुर्मुख हंस पर सवार अन्य नहीं है।" यहाँ पर अन्तिम वाक्य के लगुड़-प्रहार से तो आप सदृश रूढ़िमति पौराणिकों की कमर ही तोड़ दी।

हिन्दीकार का यह कथन कि 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति तीन शब्दों से होती है, के स्थान पर तीन धातुओं से होती है, अधिक उपयुक्त है तथा 'नीत से

शब्दघटितानामेव मन्त्राणां देवतात्वं व्याहृतम् अपितु 'यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्द-प्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निशब्देन गृह्यते' इह अग्नेः शब्देन अर्थेन उभाभ्यां वा प्रतिपादनम् इति विग्रहेणाऽभीष्ट-प्रतिपत्तेः, यास्कदृष्ट्याऽपि तल्लिङ्गेनाऽलिङ्गेन वा देवतोपलब्धि-र्मन्त्राणाम्।

(पृ० ५८७ अनु. २ तः ५८९ 'तथोक्तवान्' पर्यन्तम्) इह एषां मन्त्राणां त्वया यो महीधरोक्त-विनियोगो मतः सोऽपि निरर्थक एव, इष्टका-चयनशिल्पादि-शिक्षणाऽनुपयोगे जीवनघटितोद्देश्योपयोगाऽ-भावात्, अतो नाधिकमिह प्रपञ्च्यते। क्वापि च 'वेदभाष्य'-'भाष्य-भूमिकयोर्न विरोधः, मिथः पूर्त्यर्थकत्वात्।

(पृ. ५९० अनु. १) आक्षे० कर्मभिर्मोक्षोभवतीत्येकः पक्षोऽस्ति, परं कर्मणां क्षणभङ्गुराणां मोक्ष इति वैदिकमतमित्याश्चर्यम्। 'कर्मणां सम्पत्ति र्मोक्षोभवति, येन परमेश्वर-प्राप्तिश्च भवति, सोऽपि मन्त्रार्थ-श्चाङ्गीकार्य इति कस्य शब्दस्य कथमर्थः ?

इकार ग्रहण करना भी, ठीक नहीं है। 'भाष्य-भूमिका' में अग्न्यादि शब्दयुक्त मन्त्रों का ही देवतात्व कथन नहीं किया गया है। 'यस्मिन्मन्त्रे०' वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'अग्नि का शब्द, अर्थ अथवा दोनों से प्रतिपादन'। इससे अभीष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है।' किञ्च यास्क दृष्टि से भी उसके चिह्न और लिङ्गाभाव में भी मंत्रों में देवता का ग्रहण होता है।

(पृ. ५८७ अनु २ से 'तथोक्तवान् पृ. ५८९ पर्यन्त) यहाँ आपने मंत्रों का जो महीधरोक्त विनियोग माना है वह निरर्थक है, क्योंकि इष्टकाचयन का शिल्प-शिक्षण रूप उपयोग न मानने पर उसका जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं हो सकता, यहाँ इसका अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है। वेदभाष्य तथा 'भाष्य-भूमिका' में, परस्परपूर्तिपरकत्व होने से कोई विरोध नहीं है।

(पृ. ५९० अनु. १) आक्षेप—कर्मों से मोक्ष होता है, यह एक पक्ष है, परन्तु क्षणभङ्गुर कर्मों का मोक्ष यह वैदिक मत है, यह आश्चर्य है। कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्ष इत्यादि अर्थ किस शब्द का और कैसे हो गया ?

(समा॰) भोः ! नेह क्वाऽपि 'भूमिकायां' क्षणभङ्गुराणां कर्मणां मोक्षो वैदिकमतमित्यभिहितम् ।

ऋषिणा बुद्ध्याऽभ्यूहितोऽर्थो व्यञ्जितः कर्म-सम्पत्तिरिति पदस्य । देवता-शब्देन मन्त्रोऽपिगृह्यते तथाहि :--'अतएव ते मन्त्रमयी देवतेत्येव स्वीकुर्वन्ति इति च प्रवदन्ति याज्ञिकाः' इत्याह श्री साम-श्रमी महाभागः (निरुक्ता॰ पृ॰ २४१) ।

किञ्च महाभाग, मक्षिकास्थाने मक्षिका-निपातनशीलस्य ते नाऽयं दयानन्दाऽभ्यूहितोऽर्थः सुष्ठु प्रतिभाति, पूर्वाग्रहग्रस्त-मतित्वात् । निभाल्यतां तावदधुना सम्पूर्णमपि स्थलं यत् 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे' इत्यस्मात् पूर्वं सन्निहितो निरुक्त-पाठोऽयं "तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानमिति अर्थात् यथा भाषायां वाक्येष्वर्थ-प्रकाशन-क्षमता विद्यते तद्वदेव मन्त्रेष्वपि । तथा च मीमांसकाः 'य एव वैदिकाः शब्दास्त एव लौकिकास्त एव च तेषामर्थाः' इति । अतोऽयं प्रश्नः उद्भवति यत् कथं न लौकिका मनुष्य-रचिता एव मन्त्राः यज्ञे समादरणीयाः ? तैश्च कथं न तद्देवताऽभिधानमपि स्यात् ? इत्यस्य पूर्वपक्षस्य समाधानं विधत्ते यास्काचार्यः :—

"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे ।" अर्थात् यज्ञ कर्मफल-सम्पन्नता वेद-मन्त्राधीना, पुरुषाणां विद्यायाः (वाक्यानाम्) अनित्यत्वात् । न यज्ञे मनुष्यवाक्यैः सम्पन्नता विधातुं शक्या, अतो अपौरुषेय वेद-मन्त्राणामेव तत्र आवश्यकता, न पौरुषेयाणामित्यभिप्रायो यास्कस्य ।

अथ च वेद-मन्त्रैरेव वेद-मन्त्राणां देवताऽभिधानं भविष्यतीत्यध्याहृतोऽर्थः । मन्त्राश्च देवता-स्तुति-परकाः, तेषाम् अविनाभावेन देवतोपस्थितिः, अतो मन्त्रमयी एव देवतेति याज्ञिक-सिद्धान्तः ।

यच्चाह भवान् :—"पुरुष-विद्यायाः अनित्यत्वे हेतुरुक्तो विरचित-वाक्यानुक्रम-विस्मरणरूपः" स तु अकिञ्चित्करः, हेत्वाभासश्च वाक्यानुक्रम-रटने पूर्ववदनुस्मरणेन प्रयोक्तुं शक्यत्वात्" इति ।

(समा॰) अत्र हि न पुरुषवाक्यानुस्मरण-प्रयोजनकं नित्यत्वं, परं पुरुषस्य अल्पज्ञत्वात् तत् प्रतिपादितविद्याया अपि दोष-बाहुल्य-युक्तत्वादेव अनित्यत्वकथनमुचिततरम् ।

(समा॰) महाराज ! भूमिका में कहीं भी 'क्षणभङ्गुर कर्मों के मोक्ष के वैदिकमत की बात' नहीं कही ।

यहाँ सम्पत्ति शब्द का अर्थ सम्पूर्णता, मोक्ष (त्याग) और (परमेश्वर) प्राप्ति (सम्यक्प्राप्ति) आप्टेकोष समर्थित है । इसलिए किस शब्द का कैसे अर्थ हो गया, यह शंका निर्मूल है ।

महाराज जी, आपके मूलपाठावलोकन से ज्ञात होता है कि आपका मक्खी पर मक्खी मारने का स्वभाव है, अतएव स्वामी दयानन्द जी का अभ्यूहित अर्थ आपको अच्छा नहीं लग रहा है, आपकी मति पूर्वाग्रह से ग्रस्त है । देखिये, 'पुरुषविद्या'॰ इससे पूर्व पाठ है 'मनुष्यवद्देवताभिधानम्' । इसका अर्थ है जैसे लोकभाषा में वाक्यों में अर्थप्रकाशन की क्षमता है उसी प्रकार मन्त्रों में भी है ऐसा ही मीमांसक भी मानते हैं "जो वैदिक शब्द हैं वे ही लौकिक शब्द है और वैसे ही उनके अर्थ हैं, अतएव प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्यों न लौकिक (मनुष्य रचित) मन्त्रों से ही यज्ञ कर लिया जाये और उनसे देवताभिधान भी हो जावे ? इस शंका का समाधान 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्' कथन से महर्षि यास्क करते हैं । यज्ञ में कर्मफल सम्पन्नता अपौरुषेय वेदमंत्रों के अधीन है । क्योंकि मनुष्यों की विद्या (तद्गत वाक्य रचना) अनित्य है । यज्ञ में मनुष्य वाक्यों से कर्म सम्पन्नता नहीं की जा सकती । अतः वेदमंत्रों की ही वहाँ आवश्यकता है, न कि पौरुषेय वाक्यों की । यही महर्षि यास्क का आशय है और वेदमंत्रों से वेदमंत्रों के देवताओं का अभिधान हो जायेगा, इस अर्थ का अध्याहार हो जायेगा । मंत्र देवताओं के स्तुतिपरक हैं । देवताओं की उपस्थिति मंत्रों द्वारा होगी, अतः मंत्रमयी देवता है, यह याज्ञिकों का सिद्धान्त है ।

और जो आपने कहा कि 'पुरुषविद्या की अनित्यता में विरचित वाक्यानुक्रम के विस्मरण होने से' यह हेतु दिया है, यह तुच्छ है तथा हेत्वाभास है, क्योंकि वाक्यों को अनुक्रम में रटने पर पूर्ववत् अनुस्मरण करने पर प्रयोग किया जा सकता है ।"

(समा॰) यहाँ पर पुरुषवाक्य के अनुस्मरण प्रयोजन वाला नित्यत्व नहीं है, प्रत्युत पुरुष की अल्पज्ञता के कारण उसकी प्रतिपादित विद्या के भी दोष बाहुल्य युक्त होने से अनित्यता कहना अधिक अच्छा है ।

(पृ० ५६१ अनु० २) आक्षे०—'अथातो दैवतं तद्यानि नामानि' इत्यादि नैरुक्त-वाक्य-विवृतयेऽथेत्यनन्तरं 'दैवतं किमुच्यते इतिशेषः।' इति दयानन्द-योजितं, तन्न युक्तम् । उक्तवाक्ये शङ्काऽनवकाशात् ।

(समा०) दुर्गाचार्यटीकानुकृति-निपुणेन लेखकेन । (पृ० ५६१ तः पृ० ५६२ पर्यन्तं) 'सैषा देवतोपपरीक्षा' इत्यन्तम् अक्षरशोऽवतारितम् । ऋषिदयानन्देन तु 'दैवतं किमुच्यते' इतिपूर्वप्रश्नमुद्भाव्य 'यद्यानि०' इत्यादि नैरुक्तं समाधानं प्रस्तुतम् । यथा च दुर्गाचार्येण अपि स्वटीकायां 'दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्यामः, इति वाक्यशेषः' इति वर्धितम् । तथैवेदम् ऋषिरपि पूर्वापर-स्थलसङ्गतिस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमवर्धयत् । परमत्र सङ्कुचितधीरयं किमपि नोत्प्रेक्षितुमुत्सहते इति तु खेदास्पदम् । अन्यत्र तु कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' इत्यत्र यास्काचार्योक्तिमपूर्णां मन्यमानः 'फलसम्पन्नमेव कर्म भविष्यति इत्येवमर्थं वेदेन मन्त्रः समाम्नात इति वाक्यशेष' इति वाक्यं स्वयं योजितवान् (पृ.५६० पं. १२)। अहो यते ! धन्या ते मतिः, या यास्कस्यापि न्यूनतां द्योतयन्ती प्रशस्या ! किञ्च स्पष्ट-प्रतिपत्तये दयानन्दोद्भावितः सङ्गतः प्रश्नोऽपि अनुपयुक्तो मन्यते त्वयेति महदाश्चर्यम् । भोः पराक्षेप-निपुण ! दैवत-प्रकरणं तु दैवतंकिमुच्यते' इति प्रश्नस्यैव व्याख्यानं समाधानमिति न विदितं किं तव ?।

(पृ० ५६२ तः ५६३ पर्यन्तं) आक्षे०—'देवता-विषयक-परीक्षणे स्वामिना ऋषिरित्यस्यार्थः 'ईश्वर' इति कृतः, स न घटते । 'यत्काम-ऋषिर्यस्यामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' इति लक्षणेन ईश्वरस्य पूर्णकामत्वात् कामानुपत्तेः'। (२) 'न वा मन्त्रा देवताः,' इत्याक्षेपाभिप्रायकं ग्रन्थ-मूलम् ।

(समा०) गत्यर्थकादृषिधातोः उणादि (४।१२०) सूत्रेण ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषिरीश्वर इति सिध्यति। एवमपि मन्त्रकृदित्यत्र करोति करणार्थे तेन मन्त्रकर्त्ता ईश्वर एव । यस्मिन् प्रकरणे कृधातोः दर्शनमर्थः, तत्र मन्त्रकृत्मन्त्रदृष्टा इत्यर्थः । तथा च सायणाचार्योपि अमुमेवार्थमाह :—

(पृ. ५६१ अनु. २) आक्षे०—'अथातोदैवतं०' इत्यादि के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने निरुक्तीय वाक्य की स्पष्टता के लिए 'दैवतं किमुच्यते' अर्थात् दैवत किसे कहते हैं बढ़ा दिया है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त वाक्य में शङ्का के लिये कोई अवकाश ही नहीं है।

(समा०) दुर्गाचार्य की टीका का अनुकरण करने में निपुण लेखक ने (पृ. ५६१ से पृ. ५६२ के) 'सैषा देवतोपपरीक्षा' यहाँ तक अक्षरशः उतार दिया है। ऋषि ने स्वयं 'दैवतंकिमुच्यते' प्रश्न उद्भावित करके 'तद्यानि०' इत्यादि निरुक्तीय समाधान प्रस्तुत किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपनी टीका में 'दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्याम.' इति वाक्यशेष:' इतना बढ़ा दिया है। इसीप्रकार ऋषि ने भी पूर्वापरस्थल की संगति की स्पष्टता के लिये वह वाक्य बढ़ा दिया है, परन्तु ये संकुचितधी महोदय यहाँ कुछ भी उत्प्रेक्षा करने में असमर्थ हैं।, यह खेदास्पद है, परन्तु अन्यत्र कर्म-सम्पत्ति प्रसङ्ग में यास्काचार्य की उक्ति को अपूर्ण मानते हुये 'फल सम्पन्न ही कर्म होगा इस प्रकार के अर्थ के लिए वेद ने मन्त्र को समाम्नात किया है यह वाक्य शेष है। इस प्रकार स्वयं वाक्य को योजित किया है (पृ. ५६० पं. १२ पर) अजी यती जी महाराज ! धन्य है आपकी मति जो आचार्य यास्क की न्यूनता निकालने पर भी प्रशंसनीय है ! और यह बड़ा ही आश्चर्य है कि ऋषि के उद्भावित संगत प्रश्न को भी आप असंगत कहते हैं। भोः पराक्षेपनिपुण ! 'दैवत प्रकरणं व्याख्यास्याम:' यह सारा प्रकरण 'दैवतं किमुच्यते' का ही तो व्याख्यान है, क्या यह आपको पता नहीं ?

(पृ. ५६२, ६३) आक्षे०—देवता-विषयक परीक्षण में स्वामी जी ने ऋषि का अर्थ 'ईश्वर' किया है, वह घटित नहीं। 'यत्काम ऋषि०' इति लक्षण से ईश्वर के पूर्णकाम होने से, उसमें काम की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सं. २ मन्त्र भी देवता नहीं, इन आक्षेपों का आशय मूल ग्रन्थ में है।

(समा०) गत्यर्थक् ऋष् धातु से उणादि (४।१२०) सूत्र से, जाता है, प्राप्त करता है या जानता है वह ऋषि ईश्वर कहलाता है, मन्त्रकृत् यहाँ पर कृ करने के अर्थ में होने से मन्त्रकर्त्ता ऋषि ईश्वर ही है। जिस प्रकरण में कृ का अर्थ दर्शन है वहाँ मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद्रष्टा होता है। इसी प्रकार सायणाचार्य ने भी कहा है कि ऋषि अतीन्द्रियार्थ मन्त्रकर्त्ता है (ऐत० ६।१।२). दूसरी धातु ऋषि दर्शनार्थक है उससे सर्वद्रष्टाऋषि ईश्वर (परमात्मा) कहलाता है। वैशेषिक दर्शन में भी—"हम लोगों के ज्ञान से उत्कृष्ट-सीमा-भूतज्ञान, ईश्वर के सद्भाव में लिङ्ग है" (वैशे. १०।२।६) यहाँ पर भी ऋषि का अर्थ ईश्वर है, यह जो कहा कि—ईश्वर की कामना नहीं होती' यह भी ठीक नहीं,

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत् (ऐत. ब्रा० ६।१।२) ऋषिदशनात् ईश्वरस्तु सर्वद्रष्टा" इति। किञ्च वैशेषिकदर्शनेऽपि "अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः (१०।२।६) इत्यत्रापि ऋषेरर्थ ईश्वरः।

यच्चोक्तं 'न ईश्वरस्य कामनेति, तदपि न युक्तम्। तस्येश्वरस्य अनुग्रहरूपकामनावत्त्वात्। यथा आह (यो० १।२५) महर्षिः व्यासः "तस्यात्माऽनुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। ऋषिरीश्वरः मन्त्रान् विशिष्टकामैरयोजयत् तत्तदार्थपत्यमिच्छन्। ईश्वरस्य कामो हि नित्यः"।

(२) "देवता-विषये वेदमन्त्रैस्तदनु यास्कादिभि र्बहुप्रतिपादितम्। तथा हि भगवता यास्केन "यत्काम ऋषिः०" इत्यादिवचोभिः आब्रह्म-स्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषामेव पदार्थानामिह देवत्वं चोररीकृतमिति" प्राहुः सामश्रमि-महाभागाः निरुक्तालोचने (पृ. २३६)। तेन मन्त्रो मन्त्रार्थो मन्त्रदातेश्वरो मन्त्रप्रयोक्तारः यजमानाः, ऋत्विजः मन्त्रार्थ-द्योतित-पदार्थाः अपि देवाः।

तदेवं वेदानां सम्प्रदायाविच्छिन्नतया प्राप्ति र्नेश्वरादिति मतस्य निरासाय ऋषि-दयानन्देन ऋषिशब्दवाच्यो मन्त्रकर्त्तृत्वेनेश्वर एवात्र

क्योंकि उसकी भी अनुग्रह-रूप कामना होती है जैसा कि महर्षि व्यास कहते हैं "उसके आत्मानुग्रह के अभाव में भूतानुग्रह प्रयोजन है, ज्ञान धर्म उपदेश से कल्पप्रलय महाप्रलयों में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा"। ईश्वर ने ही मंत्रों को विशिष्ट कामनाओं से उस आर्षपत्य की इच्छा करते हुए जोड़ा, पर सर्वत्र ही ईश्वर की कामना नित्य ही होती है।

(२) "देवता विषय में वेदमंत्रों के द्वारा यास्क आदि आचार्यों ने बहुत कुछ बताया है, भगवान् यास्क ने 'यत्काम ऋषि' इत्यादि वचनों से पृथिवी से ब्रह्मपर्यन्त सब पदार्थों का देवत्व स्वीकृत किया है" ऐसा सामश्रमी जी निरुक्ता-लोचन (पृ. २३६) में कहते हैं। अतः मन्त्र, मन्त्रार्थ, मन्त्रदाता ईश्वर, मन्त्र प्रयोक्ता यजमान, ऋत्विज तथा मन्त्रार्थ में द्योतित पदार्थ भी देव हैं।

वेदों की प्राप्ति सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रहने से हुई ईश्वर से कभी नहीं हुई, ऐसा कहने वाले नास्तिकों के मत के निरसन (खण्डन) के लिए ऋषि

गृहीत इति वैशिष्ट्यमेव तस्य। अतएव 'देवतामयो मन्त्रो मन्त्रमयी च देवता' इत्येव याज्ञिकाः स्वीकुर्वन्ति।

ज्ञानादि-दानाद् देवता, ईश्वरो मन्त्रो वा, द्योतयते उपदिशति प्रकाशयते वा सर्वान् पदार्थान् इति वा देवः। तदेवं सर्व-सत्य-विद्या-प्रकाशकाणां मन्त्राणां देवत्वं न कथमपि विहन्यते, किञ्च विद्वांसो हि देवाः (शत० ३।७।३।१०) शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य-देवाः, (श० ४।३।४४।४) छदांसि वै देवाः वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्। एता वै देवताश्च छन्दांसि (श० ८।२।३) इति छन्दो-मयत्वादपि मन्त्राणां देवत्वं सिध्यति।

यदुक्तं 'तत्र मन्त्रस्यैव देवतात्वे मन्त्रे कथं नाम देवता-ज्ञानं विधीयेत' इति। तन्न युक्तं, एकस्याः देवतायाः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति इति सिद्धान्तेन मन्त्रस्य देवतात्वेऽपि प्रधानदेवताया एव अग्न्यादिरूपायाः प्रतिपाद्यत्वात् न तत्र मन्त्रस्यैव देवत्वमभीष्टम्।

श्रीमन्, यत्काम ऋषिः'० इत्यस्याभिप्राय-सूक्ष्मताऽनवगमनादेव माक्षिप्तं भवता, अस्मदुक्तप्रतिपादनेन तु ऋषिच्छन्दोदेवताज्ञानस्य आवश्यकता तु अव्याहतैव।

दयानन्द ने 'ऋषि' शब्द का वाच्यार्थ मन्त्रकर्त्ता ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है।

ज्ञानादि दान करने से ईश्वर अथवा मन्त्र देवता हैं अथवा द्योतन उपदेशन तथा प्रकाशन से भी इनका देवत्व होता है। इस प्रकार सत्य विद्याओं के प्रका-शक मन्त्रों का देवत्व किसी प्रकार भी निरस्त नहीं होता। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के उक्त प्रमाणों से छन्द और छन्दोमय होने से भी मन्त्रों का देवत्व सिद्ध है।

यह कथन कि—"मन्त्र को देवता मानने पर देवता ऋषि और छन्द का ज्ञान-विधान कैसे होगा", ठीक नहीं। एक देवता के अन्य देवता प्रत्यङ्ग होते हैं, इस सिद्धान्त से मन्त्र के देवत्व रूप में भी अग्न्यादि रूप प्रधान देवता की ही प्रतिपाद्यता होती है केवल मन्त्र का ही देवत्व अभीष्ट नहीं होता। श्रीमान् जी, 'यत्काम ऋषि०' इसका अभिप्राय न समझने के कारण आपने यह आक्षेप किया है। हमारे उक्त प्रतिपादन के द्वारा ऋषि, छन्द और देवता ज्ञान की आवश्यकता अव्याहत (अटूट) ही बनी रही।

किञ्च स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति' इत्यस्यार्थं विशदीकुर्वन् ऋषिराह, "किञ्च यदेव अर्थप्रतीति-करणं देवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्द-वाच्योऽस्तीति विज्ञायते," इति, यस्य मन्त्रस्य या काऽपि देवता प्रकाश्या तद्दैवतानाम्नाऽपि मन्त्रः तत्सम्बन्धी ग्रहीष्यते इति तात्पर्यम्। तदेवं नाऽस्ति शङ्कालेशोऽपि शेषोऽत्र। यच्च (पृ० ५६२ अनु. २) इत्यत्र 'स मन्त्रो तद्दैवतो वाच्यो भवतीति' पाठ परिवर्त्तनं कृत्वा प्रस्तुतं, तत्तु छलमेव भवतः, किञ्च मन्त्रो तद्दैवतः इत्यस्यस्थाने भवता मन्त्रस्तद्दैवतः इत्येव वचनीयमासीत्। ओकार-सन्धेः व्याकरण-विरुद्धत्वात्।

(पृ० ५६२ पं० १३) इत्यत्र 'छन्दसां देवतात्वाभिधातात्' इति तु भ्रष्ट एव पाठः।

(पृ ५६४ अनु. १ क) इत्यत्र यदुक्तं "अतएव तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु" इत्याद्युद्धरणेन मन्त्रभिन्नाः देवता दयानन्देन स्वीकृताः, तदस्माकं समर्थनं कृतम्"। तन्न युक्तम्। श्रीमन्! का नामाऽत्र तव मौलिकोक्तिर्यस्याः समर्थनं कृतं? महर्षियास्कस्यैव वचनमुद्धृत-मृषिणा, तस्यैव च समर्थनं कृतम्। नहि क्वापि ऋषिणोक्तं-यन्न मन्त्रातिरिक्ताः देवताः। क्वाऽपि यदि अग्निर्देवता प्रतिपाद्यते, तदा नैतस्या ऽयमभिप्रायो यन्नापरा देवतेति।

'स एव मन्त्र०' इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुये ऋषि दयानन्द ने इसे ध्वनितार्थ माना है कि जो अर्थ का प्रतीतिकरण देवतासम्बन्धी प्रकाशन जिसके द्वारा होता है वह मन्त्र भी देवता शब्द का वाच्य है अर्थात् जिस मन्त्र का जो कोई देवता है उस देवता के नाम से भी तत्सम्बन्धी मन्त्र का ग्रहण होगा। इस प्रकार अब शङ्का का लेशमात्र भी शेष नहीं रहा। (पृ. ५६२ अनु. २) पर 'स मन्त्रो तद्दैवतो वाच्यो भवतीति' पाठ का परिवर्तन करना आपका छल ही है। आपका 'मन्त्रो तद्दैवतः' यह ओकार सन्धि वाला पाठ अशुद्ध है। यहाँ ओकार सन्धि व्याकरण विरुद्ध है।

(पं० ५६२ पु. १३) यहा देवतात्वाभि घातात्' यह भ्रष्ट पाठ अनर्थक है।

(पृ. ५६४ अनु. १ क) यह उद्धरण देत हुये आप प्रसन्न हो रहे हैं कि 'अत एव येऽ नादिष्ट०' इत्यादि मन्त्र भिन्न देवता होते हैं। कहकर स्वामी दयानन्द ने हमारी बात मान ली। भला बताइये तो सही आपकी यहाँ पर

(पृ. ५६४ अनु. १ख) आक्षे०—"यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति (नि. ७।४) इति वाक्यस्यापि इदमेव तात्पर्यं वर्णयति दयानन्दः यत् 'यत्र विशेषो न दृश्यते तत्र एवं यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वा इत्येतद् देवताख्यमिति विज्ञायते" इति। वस्तुतः सोऽप्यशुद्ध एवार्थः यद्देवतः इतिपदस्य अर्थाविबोधात्।"

(समा०) पूर्वं तु सुधियो ध्यायन्त्विह यद् 'सो प्यशुद्धऽर्थ इति कथने पदस्यार्थाविबोधादिति हेतुः प्रस्तुतः, स च विपरीतहेतुत्वात् शुद्धार्थमेव घटयति अर्थाद् अर्थाऽनवबोधे, तु अशुद्धो भवितुमर्हेत्, परं नार्थाऽव बोधेऽशुद्धोऽर्थः स्यात्। यज्ञ-प्रकरणे अनादिष्टदेवताकमन्त्रे 'यत्कामऋषिः' इतिनिरुक्तवचनेन 'यत्काम' इति यज्ञकाम एव कुतो न स्यात्? तदा यज्ञ एव देवता स्यात्, यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते, तथाहि 'विष्णुर्वैयज्ञ' इति।

(पृ. ५६५ अनु. १) आक्षे०—यत्तु 'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताकाः इत्यादि, तदपि तुच्छं वाक्यार्था-नवबोधात्।

मौलिक-सूझ क्या है? जिसे ऋषि दयानन्द ने मान लिया। ऋषि ने तो यास्काचार्य का ही वचन उद्धृत किया है। उसका ही ऋषि ने समर्थन किया है। ऋषि ने यहाँ ऐसा तो कहीं नहीं कहा कि मन्त्र से अतिरिक्त देवता होते ही नहीं।

(पृ. ५६४ अनु. १ ख) आक्षे०—'यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग जिस देवता के लिये है वही उसका देवता है' इस वाक्य का भी स्वामी दयानन्द यही अभिप्राय बतलाते हैं कि "जहाँ पर अन्य कोई विशेषता नहीं देखी जाती वहीं पर यज्ञ या यज्ञाङ्ग को देवता माना जाता है'। यहाँ पर न चाहते हुये भी दयानन्द ने मन्त्र से भिन्न यज्ञ और यज्ञाङ्ग को देवता मान लिया है। वास्तव में यह अर्थ भी अशुद्ध है। 'यद् देवत' इस पद का अर्थ उन्होंने ठीक नहीं समझा है।

(समा०) प्रथम तो विवेचक ध्यान दें कि यह अर्थ भी अशुद्ध है इसमें आपने हेतु दिया है 'पदस्यार्थाविबोधात्' अर्थात् पद का अर्थ समझने के कारण, इस विपरीत हेतु से तो शुद्धार्थ ही घटित होता है फिर यज्ञ प्रकरण में अनादिष्ट देवता वाले मन्त्र में 'जिस कामना वाला ऋषि' यहाँ यज्ञ कामना वाला क्यों

(समा०) कीदृशोऽनवबोध इति तु नालेखीदयं लेखकः। वस्तुतस्तु निज-प्रकृतिप्रेरितोऽयं क्वापि तुच्छं, क्वाप्यविचारितम् इत्यादि-शब्दान-विचार्यैव प्रयुङ्क्ते। पदवाक्यप्रमाणज्ञश्रीजिज्ञासुमहाभागाः तादृशा वान्ये शास्त्रनिष्णातशेमुषीकाः विपश्चितो महर्षिदयानन्दस्यागाधपाण्डित्ये अप्रतिमशास्त्रदृक्प्रतिभया, योगवलाधिगत-परमेशभक्तिवृत्या पाखण्डखण्डनेन सकलजगत्कल्याणविधान-कामनया चानया अतितरां प्रभाविता अभूवन्, अतो भूरिभूरिप्रशंसा-परा अपि न ते तृप्ति लेभिरे परं भवादृशेषु असूयावृत्याहतसद्वृत्तिषु श्लोकोक्तिरियं घटतेः—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां, मुक्तां परित्यज्य विभर्त्ति गुञ्जाम्॥

(पृ. ५९५ अनु. २) पू. प.—'ऋषिणा देवमातृपितृविद्वद्दैवत्यं कर्म उपकर्त्तृत्वेन देवत्वे अमन्यत' अत्र स्थले करपात्रस्य आक्षेपो यत्—उपकर्त्तृत्वमेव देवतात्वे प्रयोजकमिह, अन्यत्राऽग्रे तु देवतात्वे-द्योतकत्वम्, उपकर्त्तृत्व-द्योतकत्वयोरेकत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं, न तत् सम्भवति अननुगमात्।

(उ० प०) न्याये अनुगमो हि नाम "येन रूपेण यावत्पदार्थग्रहस्तदेव रूपं यावत्पदार्थानुगमकं तस्य क्रिया" अस्मिन् प्रकरणे भूमिकाया देवत्वे उपकर्त्तृत्वमेव हेतुमाह। उपकारेण देवतानां सम्बन्धो लोक-दृष्ट्या द्योतकत्वस्यापि उपकारान्तर्गतत्वात् नोत्थापितो दोषः सम्भवति। दानदीपनद्योतनादिना उपकारार्थ एवोपलभ्यते, नान्यः। एवमुपकर्त्तृत्वेन यावान् पदार्थग्रहो द्योतकत्वादपि तत्पदार्थाविरोध-बोधनम्। उभयोरपि अभिन्नत्वात् नाऽस्ति व्यभिचार-शङ्का। यथा विद्वांसो सूर्यादयो देवाः वा पदार्थान् द्योतयन्ति अर्थात् पदार्थ-द्योतनेनो-पकुर्वन्ति, एवं सर्व-साधारण-गम्येऽपि विषयेऽयं लेखकः हेत्वाभासं प्रस्तुवन् दुर्बोधत्वं वागुरिकाभ्रामित्वं वोत्पादयति।

नहीं हो सकता ? तब यज्ञ ही देवता होगा। यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु होता है जैसा कि कहा गया है कि 'यज्ञो वै विष्णुः' इति। दुर्गाचार्य ने भी लिखा है सा (देवता) प्रयोक्तुरिच्छासामर्थ्यात् कल्प्या अर्थात् प्रयोक्ता की इच्छा से वह देवता कल्पनीय है।

(पृ. ५९५ अनु. १) आक्षे०—"जो यज्ञ से अन्यत्र प्रयुक्त होते हैं वे प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर देवता वाले हैं' इत्यादि कथन भी तुच्छ है, क्योंकि उन्होंने वाक्यार्थ नहीं समझा।

(समा०) किस प्रकार का यह अनवबोध है, यह आपने नहीं लिखा। वास्तव में अपने स्वभाव से प्रेरित करपात्री जी, कहीं पर तुच्छ, कहीं पर अवि-चारित इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। पर वाक्य पद प्रमाणज्ञ श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और उस प्रकार के अन्य शास्त्रनिष्णात बुद्धि वाले पण्डित, महर्षि दया-नन्द के अगाध पाण्डित्य से, अनुपम शास्त्रदृक् प्रतिभा से, योगबल से प्राप्त परमेश्वर की भक्ति वृत्ति से और पाखण्ड खण्डन द्वारा सकल संसार की कल्याण कामना से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः महर्षि की भूरि २ प्रशंसा करके भी अतृप्त रहे। इस बात को न समझने वाले, असूयावृत्ति से विनष्ट सद्वृत्ति वाले आप सरीखों पर यह श्लोकोक्ति घटित होती है 'जो जिसके गुणप्रकर्ष को नहीं समझ पाता है वह उसकी निरन्तर निन्दा ही करता है, जैसे भील हाथी के गण्डस्थल से प्राप्त मोतियों को फेंक कर गुञ्जाओं को धारण करता है।

(पृ. ५९५ अनु. २) पू. प.—ऋषि दयानन्द ने कहा है कि 'देव, माता, पिता, विद्वान् दैवत्य कर्म उपकार करने के कारण देवतात्व में माने जाते हैं' यहाँ पर करपात्री जी का आरोप है कि देवतात्व में उपकर्त्तृत्व प्रयोजन है और यह अन्यत्र देवतात्व में द्योतक है, यह हो नहीं सकता क्योंकि अनुगम का अभाव है।

(उ० प०) न्याय में 'जिस रूप से जितना पदार्थ ग्रहण हो, वही रूप उतने पदार्थ का अनुगमक होता है' को अनुगम कहते हैं। इस प्रकरण में भूमिका में देवतात्व में उपकर्त्तृत्व हेतु कहा गया है। उपकार से देवताओं का सम्बन्ध लोक-दृष्टि से है और द्योतकता उपकारान्तर्गत ही है। अतः पूर्व-दोष की उद्भावना व्यर्थ है। दान दीपन, और द्योतन आदि से उपकारार्थ ही उपलब्ध होता है अन्य नहीं। इस प्रकार उपकर्त्तृत्व से जितना पदार्थ ग्रहण होगा, द्योतकत्व से भी उस पदार्थ का विरोध रहित बोधन होता है, अतः दोनों के अभिन्न होने से व्यभिचार शङ्का भी नहीं है, जैसे विद्वान् तथा सूर्यादि देव पदार्थों का द्योतन करते हैं अर्थात् पदार्थ द्योतन से उपकार करते है। इस प्रकार सर्वसाधारणगम्य विषय को भी दुर्बोध्य शब्दों और वाग्जाल से यह लेखक हेत्वाभासों को प्रस्तुत करते हुये भ्रम उत्पन्न करता है।

(पृ० ५६५ अनु० ३) यदाक्षिप्तं 'पूर्वं मन्त्राएव देवतेत्युक्तम्, इदानीं तु मन्त्राणां यज्ञदेवत्वमिति तन्मूलविरुद्धं विसङ्गतञ्चेति,'

(समा०) तदेतन्न बुद्धिविसङ्गतं, यतो हि यस्मिन् प्रकरणे यः प्रसङ्गस्तदनुकूलमेव तत्र सङ्गतिर्भवति। अत्र यज्ञप्रसङ्गोऽतोऽत्र यज्ञस्य देवतात्वं न विसङ्गतम्। यथा च निरुक्ते क्वचित् 'तिस्र एव देवता' इति प्रोक्तमन्यत्र तु 'त्रयस्त्रिशंद्देवा' इति कथितं, तदेवं विभिन्नसंख्याप्रतिपादनं न विसङ्गतं, प्रत्युत यथाप्रकरणं तत्सङ्गतम्, तथैवाऽत्रापि बोध्यम्। परं पुनरपि भवान् किमपि वक्तुमभिलषति तर्हि को नाम भवज्जिह्वां विष्टम्भयेत्। महाबुद्धिमन्! एवंविधाः विकल्पाः स्वबुद्ध्या सङ्गमनीया भवन्ति। न तु विसङ्गताः।

(पृ०५६६ अनु० १) यदुक्तं "यज्ञकाले यथा अन्येन्द्रियाणि किमपि कुर्वन्ति तथा वागपि मन्त्रोच्चारणं करोति। नेन्द्रियाणि यज्ञसाधकानि यथा, मन्त्रा अपि न तथा यज्ञ-साधका इति।"

(पृ. ५६५ अनु० ३) आपने आक्षेप किया है कि—'ऋषि दयानन्द ने पहले तो मन्त्रों को देवता कहा है, पर अब यज्ञ को मन्त्रों का देवता कह रहे हैं। यह मूल विरुद्ध और विसङ्गत है।'

(समा.) करपात्री जी का यह आक्षेप बुद्धि-संगत नहीं, क्योंकि जिस प्रकरण में जो प्रसङ्ग होता है उसी के अनुकूल वहाँ सङ्गति होती है, विरोध नहीं माना जाता। यहाँ यज्ञ का प्रसङ्ग है, अतः यज्ञ को मन्त्रों का देवता कहा है अन्यत्र मंत्रों को भी देवता कहा है। यह विसङ्गति नहीं। जैसे निरुक्त में एक स्थान पर 'तीन देवता कहे हैं' अन्यत्र तेतीस देवता कहे हैं तो यह विभिन्न संख्या प्रतिपादन विसङ्गत नहीं है, प्रत्युत यथा प्रकरण सङ्गत है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये, परन्तु फिर भी यदि आपकी जिह्वा कुछ कहना चाहती है तो उसको कौन रोक सकता है। महाराज जी, इस प्रकार के विकल्प अपनी बुद्धि से संगमनीय होते हैं न कि विसङ्गत।

(पृ. ५६६ अनु. १) पू. प. "यज्ञ करते समय जैसे इसकी इन्द्रियाँ कुछ करती हैं वैसे ही वाणी भी मन्त्र का उच्चारण करती है जैसे इन्द्रियाँ यज्ञ की साधक नहीं हैं, उसी प्रकार मन्त्र भी यज्ञ के साधक नहीं है"

(उ. प.) एतत्तु अविचारितरमणीयमेव। 'याश्च देवताः मन्त्राः' इत्यादि प्रतिपादनात्। बृहद्देवतायां पूर्वतः परिगणितानामेव देवातानां कीर्त्तनं कृतम्, न तु तासां समालोचना विहिता। ऋषिदयानन्देन अत्र यास्कवचांसि व्याख्याय (समालोच्य) सारः समुद्धृतः।

(पृ. ५९७ अनु. ३) पू. प.—'केचित् "येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मनुष्यस्तुतिरूपो मन्त्र एवेति, मन्यन्ते" इति, तत्तु न युक्तं। नहि मनुष्याणामनाविष्कृतलिङ्गे मन्त्रे स्तुतिरुपपद्यते। अनादिष्टमन्त्राणां दुर्बोधत्वात् मनुष्याणां चाल्पबुद्धित्वात्।"

(उ. प.)—केचिदिति सङ्केतेन लिखितमपि न साधु। शास्त्रविरुद्धत्वात्। यथा 'शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः (शत० ४।३।४४।४) अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः, सुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य-देवाः। (षड्विंश ब्रा० १।१) इह मनुष्या अपि देवाः प्रतिपा-

---

(उ० प०) करपात्री जी का यह कथन बेसमझी का है। क्योंकि मंत्र यज्ञ देवता वाले हैं, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन स्पष्ट है। बृहदेवता आदि में स्वा. दयानन्द के बताये देवता नहीं दिखाई देते, 'नवीन वैदिक' यह इनका नया आविष्कार है' यह भी आप ठीक कहते हैं, क्योंकि यह आविष्कार ही है। आविष्कार का अर्थ अभाव का भाव में लाना नहीं, प्रत्युत अदृष्ट और पूर्व अनूहित का नवीन ऊहा द्वारा प्रकाशन करना है, बृहद्देवता आदि में पूर्वतः परिगणित देवताओं का सङ्कलन मात्र है, वहाँ उनका समालोचन नहीं है। ऋषि दयानन्द ने यहाँ यास्काचार्य के वचनों की व्याख्या (समालोचना) करके यह सार उद्धृत किया है।

(पृ. ५९७ अनु. ३) पु. प.—कुछ 'जिन मन्त्रों में मनुष्यों की प्रशंसा होती है वे मन्त्र नाराशंस कहलाते हैं' मानते हैं। यह कथन ठीक नहीं अनाविष्कृत लिङ्गक मंत्रों से मनुष्यों की स्तुति की जा सकती है, क्योंकि अनादिष्ट मन्त्र दुर्बोध होते हैं और मनुष्य अल्पबुद्धि होते हैं।

(उ. प.) 'केचित्' इस संकेत से किया हुआ उक्त कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यह शास्त्र विरुद्ध है। जैसे (शत० ४।३।४४।४) तथा (षड्विंश-ब्रा० १।१) में मनुष्यों को भी देव बताया गया है अन्यत्र भी लिखा है कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' अर्थात् देव बनकर देवों का यजन करे। वस्तुतः यह

दिताः। अन्यत्रापि लिखितं 'देवोभूत्वा देवान् यजेत' इति। वस्तुतो लेखकोऽयं स्वर्गस्थान् कांश्चिद् देवान्, स्वर्गञ्चाऽपि आकाशेऽस्मिन् किमपि विशिष्टस्थानमिति मनुते। देवशब्दस्य व्यापकार्थ-बोधे महर्षि-दयानन्दः क्षम आसीत् कारणमत्र निमलोक्तं तथा हिः—

शास्त्रदृक् शास्त्रसञ्ज्ञाने कृत-भूरि-श्रमो मुनिः।
यदपश्यद् हि योगेन, न तत् साधारणो जनः॥

तथाऽपि तैः सायणाचार्यादिभिः देव-शब्दस्य स्तोतृ-यजमानाद्यर्थाः अक्रियन्त, तथा हिः—तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः। (यजुः १५।५०)

इत्यत्र सायणाचार्यः देवाः ऋत्विजः इत्यर्थं व्यधात्। किञ्च (यजुः १७।५६) इत्यस्य भाष्ये देवाः यजमानाः इत्याह। तदा किमिमे न मनुष्याः ? अथापि।

'ते म आहुर्य आययुरुपद्युभिर्विभिर्मदे।

'नरो मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्निति्ष्टुहि। (ऋक् ५।५३।३) मरुद्देवताके अस्मिन् मन्त्रे मरुदर्थकः 'नर' इति शब्दः। 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः' (ऋग् ५।५६।६) इत्यत्र 'मरुतः देवताः' ते च वर्ण्य-विषयाः मनुष्या एव। कनखल-सुरतगिरि-मंगलमठस्वामि-महामण्डले-श्वरमहेश्वरानन्देन तु 'मरुत्' इत्यस्यार्थः 'मनुष्य' एव कृतः। तदेवमने-कप्रमाणैः देवस्य मनुष्यत्वं सिद्धम्।

लेखक किन्हीं स्वर्गस्थ देवताओं को मानता है और उसकी दृष्टि में स्वर्ग भी आकाश में कोई विशिष्ट स्थान है। देव शब्द के व्यापक अर्थ जानने में महर्षि दयानन्द ही समर्थ थे। निर्मलोक्ति में इसका कारण बताया है:—"शास्त्र द्रष्टा वेदादि में बहुत श्रम करने वाले मुनिवर दयानन्द शास्त्रों के मर्म समझने में योग द्वारा समर्थ हुये। साधारण व्यक्ति उस अर्थ को नहीं देख सकता।"

फिर भी सायणाचार्य आदि ने भी देव शब्द के स्तोता यजमान आदि अर्थ किये हैं, जैसे:—तं पत्नी भिरनुगच्छेम देवाः (यजु० १५।५०) में देव शब्द का अर्थ ऋत्विज् तथा (यजु० १७।५६) में यजमान अर्थ किया है। तब क्या ये मनुष्य नहीं हैं ? ते म आहुर्य० इत्यादि के मरुद् देवताके मन्त्रे मरुदर्थकः नर इति शब्दः। 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः' (ऋक् ५।५६।६) यहां ,मरुत देवताः' ये वर्ण्य-विषय मनुष्य ही हैं।

वस्तुतस्तु यज्ञ-प्रकरणे देवता-प्रसङ्गे यज्ञः, ऋत्विजः, यजमानाः, मन्त्रा, मन्त्रार्थाः, अग्निः, हविः, होता, छन्दांसि एतत् सर्वं देवतामयमेव।

किं बहुना सायणेन तु 'अथ पुनर्यस्य पुरुषस्य यदा यानानि अयुक्तानि अयोग्यानि खरमहिषादीनि प्रवर्तन्ते स्वप्नावस्थायां तथा अगोचरे ता एव देवता उच्यन्ते' ? इत्यत्र खरमहिषादि-यानानामपि देवतात्वं प्रतिपादितमिति महदाश्चर्यम्।

अतः (पृ. ६०१) इत्यत्र करपात्रिणः इदं वचः यत् 'नहि मनुष्याः देवसंज्ञाः भवन्ति, देवानां महाभाग्यात् मनुष्याद् वैशिष्ट्यबोधनात्" अज्ञान-विजृम्भितमेव तत्।

यच्चोक्तम् (पृ. ६०१) इत्यत्र अग्नेः नहि द्युस्थानं सम्भवति तस्य पृथिवीस्थानत्वात्। नाऽपि आदित्य-रश्मिषु प्राणसूर्यादिषु वा तदीयं स्थानम्। द्योतनस्य उपदेशपरत्वमपि नार्थः, द्योततेः दीप्त्यर्थकत्वात्" इति।

(समा.) तदिदं सर्वमल्पश्रुतमूलकं प्रमाणाऽभावात्। दुर्गाचार्यो हि 'अग्नीन्द्रौ द्युस्थानौ सामान्यं हि द्युस्थानं देवतानामित्याह।

कनखल के महामंडलेश्वर महेश्वरानन्द जी ने तो मरुत् का अर्थ मनुष्य ही किया है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से देवताओं का मनुष्यत्व सिद्ध है।

वास्तव में यज्ञ-प्रकरण में, देवता प्रसङ्ग में यज्ञ, ऋत्विज, यजमान. मन्त्र, मन्त्रार्थ, अग्नि, हवि, होता तथा छन्द ये सब देवत्वमय ही हैं।

अधिक क्या कहा जाय, आचार्य सायण ने तो 'अथ पुनर्यस्य' इत्यादि स्थल पर गधा और भैंसे गाड़ियों तक का देवतात्व प्रतिपादित किया है। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है।

(पृ. ६०१) पर करपात्री जी का यह कथन है कि अग्नि का द्युस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि वह पृथिवी-स्थानीय है और न आदित्य किरणों में या प्राण सूर्य आदि में उसका स्थान है। द्योतन का अर्थ उपदेश भी सम्भव नहीं, क्योंकि द्योतन का अर्थ दीप्ति है।"

(समा०) यह सब कथन अल्पश्रुतजन्य है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। दुर्गाचार्य ने कहा है कि अग्नि और इन्द्र द्युस्थानीय है और देवताओं का सामान्यतया द्युस्थान है। सामश्रमी भी कहते हैं कि "सूर्य, सुयंकर आदि का

(पृ० ६० २ अनु० १) पू० प०—"नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्, इत्यत्र इन्द्रियेषु (मुख्य) देवत्वं न युज्यते गौणदेवत्वात् शौर्यक्रौर्यगुण-योगाद् देवदत्तादिषु सिंहप्रयोगवत् ।"

(समा०) नाऽत्र इन्द्रियेषु देवत्वस्य गौणतायाः मुख्यतायाः वा उत्थापितः प्रश्नः। किञ्च देवदत्तादिषु सिंहपद-प्रयोग-दृष्टान्तस्तु नाऽत्र घटते। भवत्कथनेन देवगत-द्योतन-गुणयोगाद्देवत्वमिन्द्रियाणां, न चेन्द्रियाणां स्वतः किञ्चिद्देवत्वं, परं देवदत्तस्य तु स्वकीयमपि शौर्यादि विद्यते, तदतिशय-द्योतनाय सिंहपद-प्रयोगो भवति। तस्माद् विषमोऽयं दृष्टान्तः।

अपरं चाऽत्र यदुक्तं 'तदपि न युक्तमिति'। तत्किं न युक्तमिति न प्रतिपादितम्, यावता भवताऽपि 'देवाः' इत्यस्यार्थं इन्द्रियाणीति मन्यते एतदग्रे एव।

यच्चोक्तं 'अर्शत्' इति पाठस्तु काण्वशाखीय एव,। एषा तु भ्रान्तिरेव भवतः, यतो हि सनातनधर्मिश्रीजगदीशलाल शास्त्रि संपादितायाम् उव्वटमहीधरभाष्यसंवलितायां वाजसनेय-मध्यान्दिनसंहितायामप्ययमेव पाठः समुपलभ्यते। किञ्च वि० २००४ संस्करणे भा० भूमिकायाम् अर्षत्, इत्येव पाठः।

(पृ० ६०२ अनु० १) पूर्व-पक्ष-'इन्द्रियों का मुख्य देवत्व ठीक नहीं है, वहाँ गौण देवत्व है, जैसे शौर्य, क्रौर्य आदि गुणों के योग से देवदत्त आदि में सिंह-पद का प्रयोग किया जाता है"।

(समा०) यहाँ पर देवत्व की गौणता और मुख्यता का प्रश्न ही कहाँ है। शौर्य, क्रौर्यादि गुणों के योग से देवदत्त आदि के लिये गौण रूप से सिंह पद का प्रयोग किया जाता है। ऐसा आपने लिखा है। महोदय ! देवदत्त आदि में सिंह पद प्रयोग का दृष्टान्त यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि आपके कहने से देव-गत गुणों के योग से ही इन्द्रियों का देवत्व है स्वतः नहीं हैं, पर 'सिंहः देवदत्तः' कहने पर देवदत्त का अपना भी शौर्यादि है। सिंह पर का प्रयोग तो शौर्य आदि के अतिशय के द्योतन के लिये होता है, अतः यह दृष्टान्त विषम है।

दूसरे आपने कहा कि दयानन्द का कथन युक्त नहीं, पर यह नहीं बताया कि क्या ठीक नहीं, जबकि देवाः' का अर्थ 'इन्द्रियाँ' आप भी मान रहे हैं।

(आक्षेपः)—"स्तुतिर्हिगुणदोषकीर्तनम्" इति कथनं तुच्छं, गुण-वर्णने एव स्तौतेः प्रसिद्धत्वात्।

(समा०)—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' अत्र प्रकरणे तु गुणदोषयोरुभयोरेव कीर्तनं स्तुतिः। यथा च दुर्गाचार्यः, नानावस्थादर्शनवदाख्यातॄणां परिदेवननिन्दादिष्वपि चेन्द्रादीनां कामकारतः तद्रूपमवस्थितानां सा स्तुतिरेव' (निरु० ७।२।३)। तदेवम् अत्र परिदेवना, निन्दादिदोषकथनमपि स्तुतिरेवाऽमन्यत। अन्यथा येषु मन्त्रेषु दोषा वर्ण्यन्ते तत्रेदं लक्षणं कथं घटिष्यते यथाः—"जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्। (ऋक् १०।३४।१०) इत्यादिमन्त्रेषुअक्षकितवनिन्दैव देवता। तस्मात् स्तुतिरत्र गुणदोषयोः कीर्त्तनं न केवलं गुणस्यैव। अतएव महर्षिणाऽभिहितम्, 'यस्य पदार्थस्य मध्ये गुणाः वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते'। भौतिक-पदार्थेषु एव गुणाः दोषा वापि सम्भवन्ति, न तु परमेश्वरे, तस्य दोष-रहितत्वात्, अतस्तद्गुण-कीर्तनमेव स्तुतिः। वस्तुतो यथार्थवाद एव स्तुति स्तथा च काव्येऽपि

आपने कहा कि 'अर्शत्' पाठ तो काण्व शाखा में ही मिलता है वाजसनेय शाखा में नहीं, यह आपकी भ्रान्ति ही है, क्योंकि सनातन-धर्मी श्री जगदीश लाल शास्त्रि सम्पादित उव्वट महीधर-भाष्ययुक्त वाजसनेय माध्यन्दिन-संहिता में भी यह पाठ मिलता है कि २००४ के संस्करण में अर्षत पाठ है।

(आक्षे०) गुणदोष कथन को स्तुति मानना तुच्छ विचार है, क्योंकि इसका प्रयोग केवल गुण वर्णन में होता है।

(समा०) 'यत्कामः' अर्थात् जिस कामना वाला ऋषि जिस देवता में आर्थपत्य की इच्छा करता हुआ स्तुति का प्रयोग करता है, यहाँ स्तुति का अर्थ गुण और दोष दोनों का कथन है, अन्यथा जिन मन्त्रों में किसी के दोषों का वर्णन किया गया है, वहाँ 'स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' यह बात कैसे घटेगी ! जैसे 'जाया तप्यते कितवस्य'० मन्त्र में अक्षकितव की निन्दा ही देवता है। यहाँ 'यत्कामः' में स्तुति का अर्थ गुणदोष कथन है। केवल गुणों का कथन ही स्तुति नहीं है। अतः ऋषि कथन है कि जिस पदार्थ के मध्य में गुण वा दोष हैं वैसों का ही उपदेश लेख आदि करना स्तुति है, भौतिक पदार्थों में ही गुण

व्याजस्तुतिस्तव पयोद-मयोदितेयं,
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं नु ते महदिदं घन धर्मराज ।
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान् निहत्य ।। (सा. द.१०।६०)

इह व्याजस्तुतिस्तोत्र-शब्दौ प्रशंसायां निन्दायां चापि स्तः । अतः भवत्कथनमवोधसूचकमेव ।

(पृ० ६०२ अनु०२) आक्षे० 'परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति, उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् ? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते (इति यदुक्तं) तदपि निस्सारम् कोऽयं नियम इत्यस्यानिरूपितत्वात् ।

(समा०) भोः वेदभाष्यकार ! कोऽयं नियमः इत्यपि भवता नावबुध्यतेति महदाश्चर्यम् । तदवधेयमत्र यत् केवलं सकामकर्मकाण्डं प्रत्येव परमेश्वरातिरिक्तपदार्थस्य उपभोगेच्छया स्तुतेरर्थः गुणदोषात्मक इति, परन्तु निष्काम-कर्मकाण्डे ज्ञानकाडे, उपासनाकाण्डे च जीवा-

---

दोष संभव है परमेश्वर में नहीं, क्योंकि वह निर्दोष है । वास्तव में यहां यथार्थ-वाद ही स्तुति है । काव्य में भी देखिये :=साहित्यदर्पण के व्याजस्तुतिः' इत्यादि के श्लोक में—हे बादल' ! मैंने यह तुम्हारी व्याज-स्तुति की है कि संसार के जीवन के लिये तुम्हारा तुम्हारा जल (जीवन) है, पर यह तुम्हारी स्तुति (स्तोत्र) है कि तुम पथिकों की हत्या करते हो । यहाँ पथिकों की हत्यारूप दोष को बादल की स्तुति कहा गया है । इसलिये करपात्री का उक्त खण्डन उनके प्रबोध का सूचक है ।

[पृ० ६०२ अनु० २] आक्षे० —'परन्तु यह नियम कर्मकाण्ड के प्रति है । उपासना काण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में और कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में परमेश्वर ही इष्टदेव है, क्योंकि वहाँ उसी की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है, यह कथन निस्सार है, क्योंकि वह नियम कौन सा है ? इसका निरूपण नहीं किया ।

(समा०) वेदभाष्यकार महोदय ! वह कौन सा नियम है, यह आप नहीं समझ सके, बहुत ही आश्चर्य है । देखिये, केवल सकाम कर्मकाण्ड के प्रति ही परमेश्वर से भिन्न पदार्थ का उपभोगेच्छा से स्तुति का अर्थ गुण दोषात्मक होता है, परन्तु निष्काम कर्मकाण्ड में उपासना और ज्ञानकाण्ड में जीवात्मा के ईश्वर निष्ठ होने से और ईश्वर के निर्दोष होने से स्तुति का अर्थ केवल गुण

त्मनः ईश्वरनिष्ठवृत्तितया ईश्वरस्य च दोष-रहिततया स्तुतेरर्थः केवलं गुणकीर्तनमेव न दोषकीर्तनम्, यतो हि 'गुणाः वा दोषाः सन्ति' इति महर्षि-वाक्ये 'वा' वचनं न केवलस्य गुणस्य दोषस्यापि वा व्यञ्जकम्, अतः सकामकर्मकाण्डे इष्टभोगप्राप्त्यर्थम् अग्न्यादिदेवैः सह परमेश्वरोऽपि देवः इत्ययमेव मुख्य-देवत्व-नियमः । सकामे इष्ट प्राप्तिःकार्यमीश्वरश्च कारणं भवति ।

(पृ० ६०३ अनु० १) आक्षे०—महाभाग्याद् देवताया एक-एवात्मा स्तूयते० (निरु० १।४) इत्यादिप्रमाणं कस्मिन्नर्थे इति तु दयानन्द एव जानीयात् ।

(समा०) श्रीमन् ! ईश्वरस्य सकामे निष्कामे वा कर्मणि सर्वत्र प्रार्थनोपासना विधातव्या, देवानां मध्ये स एव ईश्वर सर्वत्र मुख्यो-देव इत्यर्थे माहाभाग्याद् एक एवात्मा बहुधा स्तूयते' इत्यादि प्रमाण-मिति भवानपि जानातु ।

विषयेऽत्र सर्वदेवदेवस्यैव उपास्यत्वे तत्रत्या दुर्गाचार्य-टीका द्रष्टव्या, तथाहि :—लोके तावदेते मनुष्याणामश्वादयोऽर्था आगन्त-वोऽपायिनश्चानित्याः तद्यदि देवतानामप्येवं ततस्तासां तेषां

कीर्तन ही है, दोष-कीर्तन नहीं, क्योंकि 'गुणा वा दोषाः' इस महर्षि के वचन में 'वा' केवल गुण या दोष का व्यञ्जक है, इसलिये सकाम कर्मकाण्ड में इष्ट भोग प्राप्ति के लिये और देवों के साथ परमेश्वर का भी देवत्व है यही मुख्य देवत्व का नियम है । सकाम में इष्ट प्राप्ति कार्य और ईश्वर कारण है ।

(पृ० ६०३ अनु०) आक्षे० —'माहाभाग्याद्०' इत्यादि अर्थात् देवता (परमात्मा) के महाऐश्वर्यशाली होने से एक ही परमात्मा की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है, इत्यादि प्रमाण किस अर्थ में है ? यह दयानन्द ही जाने ।

(समा०) श्री मान् जी ! ईश्वर की सकाम या निष्काम कर्म में सर्वत्र प्रार्थनोपासना करनी चाहिये । वही ईश्वर सर्वत्र मुख्य देव है । इसके समर्थन में 'माहाभाग्यात्, एक एव आत्मा० इत्यादि प्रमाण है, यह आपको भी ज्ञात होना चाहिये ।

इस विषय में कि देवों का देव परमेश्वर ही उपास्य है । दुर्गाचार्य की टीका देखिये —'लोक में तो मनुष्यों के अश्वादि अर्थ नश्वर और अनित्य हैं, तो देवताओं के भी इसी प्रकार अनित्य होंगे । फलतः यह स्तुति अनर्थक

चाऽनित्यत्वात्, स्तुतिरनर्थिका, ततः समाधत्ते, तस्मात् प्रतिसमाधातव्यम् इत्युपोद्घत्य उत्तरमुच्यते 'माहाभाग्यादित्यादि ।'' एतदेव श्रीमता दयानन्देन स्पष्टीकृतं यत् उपास्यत्वेन देवानांदेवः ईश्वर एव अस्ति तस्य माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादि-विशेषणवत्त्वात् ।

यदुक्तं "दयानन्द एव जानीयात्" तत्सत्यमेव, यतः स महर्षिः जानन्नेव ज्ञापयति, तदनुयायिनोऽपि चाववुध्यन्ते । यदि भवान्न ज्ञातुमर्हति, तर्हि नान्यस्य दोषः । अथापि ऋषिणा ईश्वरोनिर्दोषोनिर्विकार इति सर्वत्र प्रत्यपादि । अतएव स एव सर्वश्रेष्ठो मुख्यो देवोऽस्ति ।

(पृ० ६०४ अनु. १ तः पृ० ६०७ पर्यन्तम्) समग्रमिदमसमालोचनीयमप्रासङ्गिकत्वात् । परम् अत्र यदुक्तं 'मनुष्येषु' ऐश्वर्याभावात् मनुष्या न देवा इति । तत्तु अयुक्तमेव, यतः ऋत्विजां विदुषां यजमानानां चाऽपि (मनुष्यदेहधारिणां) बहुत्र शास्त्रे देवत्वाङ्गीकारः । तथा हि :—यो दीक्षते स देवतात्मको भवति (श० प० ३।१।१८।१०) "अमानुष इव वा एतद् भवति यद् व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते······

तदु खलु·· पुनर्मानुषो भवति । तस्मादिदमहमेवाऽस्मि सोऽस्मि इत्येव व्रतं विसृजति" तत्राऽपि अनृतपरिहारादिकमेव बीजम्, यतो हि :— 'अमृताः मनुष्याः' अतएव दीक्षितेन सत्यमेव वक्तव्यमिति यज्ञ-नियम इति ।

(पृ० ६०७ अनु. १ आक्षे०—'दयानन्दस्तु (देवाः) कर्मणा जायन्ते इत्याह, तन्न युक्तम्, सर्वस्यैव कर्मजन्यत्वेन वैशेष्यानुपपत्तेः ।'

(समा०) अयुक्तोऽयं भवदाक्षेपो यत् दयानन्दानुसारं सूर्यादीनां जन्म पूर्वकर्माधारेण भवति, यतो नैवं क्वापि ऋषिरमन्यत । तन्मते केवलं चेतनदेवानामेव जन्म पूर्व-कर्ममूलकम् । भवद्रीत्या तु लोकाऽनुजिघृक्षया कर्मफलसिद्धये देवाः जायन्ते इति वचनात् सूर्यादीनां जडदेवानामपि चेतनत्वं प्रतिपाद्यते, परम् आत्मानुग्रहेच्छा चेतनेषु एव सम्भवति न जडेषु ।

न च 'कर्मणा जायन्ते' इति पाठे कर्मणेति हेत्वर्थकतृतीयैव भाव्यमिति, तदा तु सूर्यादीनां जडानामपि देवानां कर्ममूलकमेव

होगी । तब समाधान दिया है कि परमात्मा के परमैश्वर्यशाली होने से स्तुति निरर्थक नहीं है । इसी बात को ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि उपास्यत्वरूप से देवों का देव परमात्मा ही है, क्योंकि वह माहाभाग्य अर्थात् सर्व शक्तिमानादि विशेषण वाला है ।

यह कहना कि इसको दयानन्द ही जाने, सो ठीक ही है कि वह दयानन्द ही जानकर ज्ञापित भी करता रहा हैं ; उसके अनुयायी भी समझ रहे हैं, यदि आप न समझें तो इसमें अन्य का क्या दोषहै ! ईश्वर ही निर्विकार, निर्दोष है, ऐसा ऋषि ने सर्वत्र प्रतिपादित किया है, इसलिये वही सर्वश्रेष्ठ मुख्य देव है ।

(पृ० ६०४ से पृ० ६०१ तक) यह समस्त भाग अप्रासङ्गिक होने से आलोचना का विषय नहीं । परन्तु आपने यह जो कहा कि 'मनुष्यों में ऐश्वर्य के अभाव के कारण देवत्व नहीं होता' अयुक्त है, क्योंकि ऋत्विज्, विद्वान्, यजमान इन सभी का मनुष्यदेहधारियों का शास्त्र में अनेकत्र देवतात्व कहा गया है । जैसे कि 'यो दीक्षते०' अर्थात् यज्ञ में जो दीक्षित होता है, वह देवतात्मक हो जाता है (श. ब्रा. ३।१।१८।१०) . 'अमानुष इव वो०' इत्यादि अर्थात् जो व्रत को प्राप्त होता है, यह अमानुष जैसा होता है । वह व्रत समाप्ति पर फिर मनुष्य हो जाता है । इसलिये मैं यह वही हूं, यह कहकर व्रत का त्याग करता है । यहां झूठ का परिहार (त्याग) ही देवत्व का बीज है, क्योंकि साधारण मनुष्य असत्यवादी होते हैं, इसलिये यज्ञ नियमानुसार व्रत-दीक्षित को सत्य ही बोलना चाहिये । इस प्रकार मनुष्य में ही देवत्व होता है ।

(पृ० ६०७ अनु० १) आक्षे०—देव कर्म से होते है अर्थात् अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं' यह दयानन्द-कथन ठीक नहीं क्योंकि सभी कर्म जन्य है अर्थात् पूर्व कर्मों के आधार पर सभी का जन्म होता है । इससे देवताओं की किसी प्रकार की विशेषता प्रतीत नहीं होती ।

(समा०) आपका यह आक्षेप अयुक्त है कि सभी सूर्यादि जड़ देवों का जन्म पूर्व कर्मों के आधार से होता है । ऋषि ने चेतन-देवों कर ही जन्म, कर्मों के आधार पर माना है । आपकी रीति से अग्नि, सूर्यादि का चेतनत्व प्रतिपादित है, क्योंकि आपने कहा है कि 'लोकों के अनुग्रह की इच्छा से कर्मफल सिद्धि के लिये देवताओं का जन्म होता है' । यहाँ आत्म अनुग्रह की इच्छा चेतनों में ही सम्भव है जड़ों में नहीं ।

(शङ्का) 'कर्मणा जायन्ते' यह पाठ होने पर 'कर्मणा' में हेत्वर्थक तृतीया ही है, तब तो सूर्यादि जडदेवों का भी जन्म कर्म मूलक ही मानना चाहिये ।

अवस्थान्तरमधिगन्तुं चेतनं कर्त्तारमपेक्षते। स्वयं तु न क्षमा, जडत्वात् सा जडाप्रकृतिः परमेश्वररूपान्निमित्तकारणयोगादवस्थान्तरं विकृति-भावं प्राप्नोति। सैव प्रकरणानुसारं सामर्थ्यमप्यभिधीयते।

किञ्च, अग्न्यादिषु जडेषु अनुग्रहेच्छा संकल्पादीनां च कल्पना तु मिथ्यैव, अनुग्रहादीनां चेतनधर्मत्वात्। महाभाग ! इह तु भवद्बुद्धिश्चिन्तन सीमामेवातिक्रान्तवती, यद् भवान् लिखति 'रथादिरूपेण देवतैव आत्मानं विकृत्य प्रकृतिभेदेन रथादिसाध्यमर्थं सम्पादयति इति। इहास्ति भवदभिप्रायो यत् 'देवता स्वेच्छया कार्याणि साधयितुं रथरूपमुपादत्ते, इति। परं भोः ! जडेन देवेन नेदं कदापि सम्भवति। (पारिजातस्य ६०८ तमे पृष्ठे षष्ठपङ्क्तौ) तस्मिन्नेवार्थेऽ यदपि प्रमाणमुपस्थापयति दयानन्दः 'ये त्रिंशति·········· (६१० तमे पृष्ठे पञ्चदशपङ्क्तौ,)। तदपि न युक्तं च तात्पर्यानवबोधात्, प्रकरण-विरोधाच्च। स तु 'मन्त्रा एव देवतापदवाच्या' इति वक्ति क्वचित् परमेश्वरः क्वचित् मनुष्या एव देवाः। इहतु तद्विपरीतमेवा नेके देवा उक्ता।

वही प्रकरणानुसार 'सामर्थ्य' भी कही जाती है वह किसी चेतन कर्त्ता की अपेक्षा करती है। जड़ होने से वह स्वयं समर्थ नहीं। वह तो निमित्तकारण परमात्मा की सामर्थ्य से विकृति को प्राप्त होती है।

साथ ही अग्नि आदि जड़ पदार्थों में अनुग्रह की इच्छा और संकल्पादि की सम्भावना तो असम्भव ही है, क्यों कि ये इच्छादि चेतन पदार्थों के धर्म हैं। महाराज जी ! यहाँ तो आपकी बुद्धि ने समस्त चिन्तन सीमाओं को ही लांघ दिया, जो कि आपने लिखा है कि रथ आदि रूप में देवता ही स्वयं को विकृत-कर प्रकृति-भेद से रथादि साध्य-अर्थ का सम्पादन करता है। (पृ. ६०७) यहाँ पर आपका अभिप्राय है कि देवता स्वेच्छा से कार्य-सिद्धि करने के लिए रथरूप धारण कर लेता है।" परन्तु जड़ पदार्थ ऐसा कदापि नहीं कर सकते।

(पृ० ६०८ से पृ० ६१० पर्यन्त) पू० प०—यह कथन कि दयानन्द ने (देवता-प्रकरण में) अन्य प्रमाण दिये हैं ('ये त्रिशातित्रयः' इत्यादि ये दयानन्द मत के पोषक नहीं हैं। दयानन्द की मान्यता है कि मन्त्र ही देवता पद वाच्य हैं कहीं परमेश्वर और कहीं मनुष्य ये देवता पद वाच्य हैं। परन्तु

(समा०) महोदय ! प्रथमं तु न काप्यत्र प्रकरण-विरोधिता, सर्वस्यैव प्रकरणस्य दैवतत्वात्। एतादृग्यजुरथर्वशतपथ-प्रमाण-समुद्धरणं प्रकरणावहमेव, एष्वपि देवताचर्चाकारणात्, द्वितीयं तात्पर्यानवबोधकथनमपि न युक्तं, भवत एव तात्पर्यानवबोधाल् सम्भवाभावाच्च। तथाहि :— दृश्यतां तावत्स्वकृतः ये त्रिंशति त्रयस्परो देवास ? इत्यादिमन्त्रार्थः :-'ये त्रयस्त्रिंशद् (देवताः देवाः (बर्हिः) अस्मदीय यज्ञ-सम्बन्धिनि बर्हिषि कुशासनेषु हविः-स्वीकरणार्थम् आसीदन्तु' इति। तत्कथं भोः बुद्धिमन् ! भवदुक्ताः आदित्यादयः जडा देवाः समागत्य कुशानामासनेषु उपवेष्टुमर्हन्ति ? सर्वथाऽसम्भव-मिदमुपवेशनं तेषामासनेषु। विद्वांसो यजमानाश्च देवाःस्थातुमर्हन्ति। वस्तुतस्त्वध्यात्मार्थः (ये त्रिंशति०) इत्यस्य, यथा-त्रिंशत्संख्यायाःपरः परस्तात् त्रयः, त्रयस्त्रिंशदित्यत्यर्थः, देवाः (मनः-सहितैकादशेन्द्रियाणि उत्तममध्यमाधमभेदेन) चक्षुरादीनि शक्तीन्द्रियाणि विद्यन्ते, ते देवा मम बृहदन्तःकरणमाश्रित्य उपविशन्तु एकत्रीभवन्तु। चञ्चलानि भूत्वेतश्चेतश्च मा पलायिषत। एवं तत्र स्थित्वा निश्चयेन परमात्मानं विदन्तु। अपि च द्विविधाः, कर्मदेवा ज्ञान-देवाश्च,स्वसमीपाद् दुर्व्यसनं दूरीकुर्वन्तु। हे मनः ! तथा त्वं यतस्व यथा सर्वेन्द्रियदेवाः स्ववशे तिष्ठन्तु।

यहाँ उसके विरुद्ध अनेक देवता बतलाये हैं। और यह जो कहा है कि इन वेद मन्त्रों के ये अर्थ हैं') वह भी ठीक नहीं, क्योंकि उनको इनके तात्पर्य का बोध नहीं है। और प्रकरण का किरोध भी है।

महाराज जी ! पहले तो यहाँ प्रकरण-विरोध ही नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण ही दैवत प्रकरण है। इसमें इस प्रकार के ऋग, यजुः, अथर्व शतपथ आदि के प्रमाण देना प्रकरण का ही समर्थन है, क्योंकि इनमें देवता-विषय की ही चर्चा है। दूसरे 'इन मन्त्रों के तात्पर्य को ऋषि ने नहीं समझा' यह कथन भी ठीक नहीं है, प्रत्युत आपने ही इनके वास्तविक अर्थों को नहीं समझा, जो समझा है वहाँ सम्भव का अभाव है जैसे कि आपने 'ये त्रयस्त्रिशद् देवाः०' मन्त्र का अर्थ किया है कि ये तेतीस देवता हमारे यज्ञ-सम्बन्धी कुशासनों पर हमारी हवि को स्वीकार करने के लिए बैठें'। बुद्धिमद्वर्य ! कृपया यह बताइये कि ये आदित्यादि तेंतीस जड़ देव किस प्रकार छोटे २ आसनों पर बैठेंगे ? उनका आसनों पर बैठना सर्वथा असम्भव है।

(पृ० ६११ अनु० १) आक्षे०—नाऽत्र त्रयस्त्रिंशत्संख्यानां देवानां प्रतिपादनम् पूर्वोक्त-शतपथवचन-विरोधात्।

(समा०)—इदं कथनं तु पाठकानामक्षिषु धूलिक्षेप एव, यतस्तत्र (शतपथे १४।६।३-७, ९,१०) स्पष्टतया नामग्रहणपूर्वकं 'अष्टौ वसवः, एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशदिति देवानां परिसंख्यानमस्ति' 'यजुर्मन्त्रे 'त्रयस्त्रिंशतास्तुवत' इत्यादौ तु त्रयस्त्रिंशत्संख्यायाः किमप्यन्यद् व्याख्यानं कृतं शतपथेनाऽन्यत्र, तद्भवतु का नाम तत्राऽऽपत्तिः? व्याख्यानान्तरं तन्नाऽसौ विरोधः, यतः कस्यापि विषयस्य अनेक-विधव्याख्यानं न विरोध उच्यते। किञ्च ऋषिणा यजुर्वेदे 'त्रयस्त्रिंशता' मन्त्रस्य-महाभूतानां त्रयस्त्रिंशद्भि गुणैः परमेश्वरस्य स्तुतिः कार्या इत्यपि व्याख्यानं कृतमस्ति, तद्व्याख्यानेऽपि न कश्चन विरोधः अनेक व्याख्यानानि तु प्रतिपाद्यस्य गौरवमेव वर्धयन्ति, अतोऽत्र विरोध-कथनं न युक्तम्।

(पृ० ६१२ अनु० १) पू. प. अथर्वमन्त्राभ्यां तु त्रयस्त्रिंशद्देवा

(पृ० ६११ अनु० १) आक्षे०—भूमिका के इस प्रकरण में तेतीस देवताओं का प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्त स्थल से विरोध होगा।

[समा०] आपका यह कथन पाठकों की आखों में धूल झोंकना है, क्योंकि यहाँ शतपथ ने स्पष्ट रूप से अष्टौवसवः इत्यादि नाम लेकर तेंतीस देवताओं की गिनती की है। फिर भी उसका नकार करना प्रत्यक्ष का अपलाप है। यदि यजुर्वेद के 'त्रयस्त्रिशंता' मंत्र का शतपथ ने [८।४।३।१-२ १८,१९] में कुछ और व्याख्यान कर दिया है, तो वह कोई विरोध नहीं है, क्योंकि किसी विषय में अनेक-विध व्याख्यान विरोध नहीं कहलाता। दूसरी बात यह भी है कि ऋषि ने 'त्रयत्रिशंता' मन्त्र का ही व्याख्यान यह किया है कि महाभूतों के तेतीस गुणों से परमेश्वर की स्तुति करनी चाहिये। इस व्याख्यान में भी कोई विरोध नहीं। अनेक सद् व्याख्यानों से व्याख्येय का गौरव ही बढ़ता हुं बिरोध नही। अतः यहाँ विरोध समझना ठीक नहीं है।

(पृ० ६१२ अनु० १) आक्षे०—अथर्व के ऊपर उद्धृत दो मन्त्रों में

यस्य स्कम्भस्याङ्गेगात्राणि भवन्तीत्युक्तम्। एतेनाऽपि देवतानां विशिष्टैश्वर्यशालिनीनां हिरण्यगर्भरूपा मुख्यदेवता अन्यास्तदङ्गभूताः सिध्यन्ति।

'(उ० प०) त्रयस्त्रिंशद् देवानाम् मुख्यस्य स्कम्भस्याङ्गभावः निरुक्तेन स्पष्टीकृतो यद् एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति इति अर्थात् ते सर्वेदेवा एकस्यैव स्कम्भस्य परमात्मनः अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति। हिरण्यगर्भरूपश्च परमात्मा मुख्यो देव इति न काचिद् विप्रतिपत्तिः। परमेश्वरस्य हिरण्यगर्भत्वे च 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादिप्रमाणम्। अतस्ताभ्यामपि अथर्वमन्त्राभ्यां (अथर्व कां० १०।७।२३, २७) त्रयत्रिंशद्देवानां प्रतिपादनं समुचितमेव।

(पृ० ६१३ पं० १०) आक्षे०—इन्द्रस्य हि तत् कर्म तेन न विद्यु-न्मात्रस्येन्द्रत्वम्।······कतमो यज्ञ इति प्रश्नस्योत्तरं पशव इति। यज्ञस्य साधनानि पशवः, यज्ञस्यामूर्त्तत्वात् साधनातिरिक्तरूपाभावाद्

भी उस आधारभूत परमेश्वर-काय के ये तेतीस देवता अंगरूप में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार यहां पर विशिष्ट ऐश्वर्यशाली देवगण में हिरण्यगर्भ मुख्य देवता और अन्य अङ्गदेवता कही गई हैं।

(समा०) तेंतीस देवों के मुख्यस्कम्भ (परमात्मा) के अङ्ग भाव को निरुक्त में स्पष्ट किया है कि एक ही परमात्मा के अन्यदेव प्रत्यङ्ग होते हैं' अर्थात् वे सब देव उस एक ही व्यापक परमात्मा के प्रत्येक अङ्ग को शोभित करते हैं। इस निरुक्ति से उस परमात्मा की सामर्थ्य के एक देश में प्रकाशित होते हैं। परमात्मा 'हिरण्यगर्भः रूप मुख्य देव है, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि वेद मन्त्र इसमें प्रमाण है। इसलिये अथर्ववेद के (कां०।१०।७/२३/२७) दोनों मन्त्रों में तेंतीस देवों का ही प्रतिपादन ठीक ही किया गया है।

(पृ० ६१३ पं. १०) आक्षे०—इन्द्र का निश्चय ही वह कर्म है कि वह प्राणियों को मार डालता है। अतः केवल विद्युत् को इन्द्र नहीं कहा जा सकता। ..यज्ञ कौन सा है? उत्तर है 'पशु'। यज्ञ के साधन पशु हैं, यज्ञ अमूर्त है। साधन के अतिरिक्त इसका कोई स्वरूप नहीं और यज्ञ पशु पर

पश्वाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते, कारणे कार्योपचारात् । दयानन्दस्तु प्रजापालन-हेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा' इत्याह, तत्तूपेक्ष्यमेव ।

(समा०) भोः स्वामिन् ! तत्र शतपथे प्रश्नः कृतः कतम इन्द्रः ? कतमः प्रजापतिरिति ? उत्तरं चैतत् स्तनयित्नुरेव इन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । पुनस्तत्र प्रश्नोत्तरं, कतमः स्तनयित्नुः ? अशनिरिति, कतमो यज्ञः ? पशव इति । अयमेवार्थं ऋषिणा सरलतया गृहीतः । स यज्ञस्य पशूनाञ्च प्रजापतित्वे हेतुमाह—प्रजापालन-हेतुत्वादिति । गौणवृत्त्या (परम्परया) पशूनामपि प्रजापतित्वं सिध्यत्येव, यतोहि प्रजापतिर्यज्ञः, यज्ञश्च पशव इति प्रोक्तम् । यच्चोक्तं—न विद्युन्मात्रस्येन्द्रत्वमिति तन्न युक्तम् । इह 'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः' इति शतपथे अवधारणार्थकस्य 'एव' शब्दस्य पाठाद् विद्युन्मात्रस्यैवेन्द्रत्वमत्र युक्तम् ।

किञ्चाक्षेपकर्त्तुर्मस्तिष्के कस्यचित्साकारस्य स्वर्गस्थस्य चेतनस्येन्द्रस्य कल्पना वर्त्तते । येनेदमुपेक्ष्यमिति वक्ति यस्यवर्णन-

---

आश्रित है । अतः कहा जाता है कि पशु यज्ञ है । यहाँ पर कारण में कार्य का औपचारिक प्रयोग होता है । दयानन्द ने यहाँ कहा है कि प्रजा का पालन कर सकने के कारण पशु और यज्ञ को यहाँ पर गौण रूप से प्रजापति कहा गया है, यह ठीक नहीं ।

(समा०) महाराज ! शतपथ में प्रश्न है कि इन्द्र कौन है ? उत्तर है बिजली (स्तनयित्नु) ही इन्द्र है । प्रजापति कौन है ? उत्तर है यज्ञ प्रजापति है । फिर प्रश्नोत्तर है स्तनयित्नु कौन है ? अशनि है । यज्ञ कौन है ? पशु यज्ञ हैं । इसी अर्थ को ऋषि ने सरल रुप में लिया है । यज्ञ और पशु के प्रजापति होने में हेतु दिया है प्रजा का पालन । अतः गौणवृत्या (परम्परा) से पशुओं का भी प्रजापतित्व सिद्ध है, क्योंकि प्रजापति यज्ञ और यज्ञ को पशु कहा है । यहां आपने यह जो कहा कि 'बिजलीमात्र का इन्द्रत्व नहीं हैं,' ठीक नहीं, क्योंकि शतपथ में 'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः यहाँ अवधारणार्थक 'एव' शब्द का पाठ होने से इन्द्र का अर्थ विद्युत् ही है, ऐसा मानना पड़ेगा ।

यहाँ पर ज्ञात होता है कि आक्षेप-कर्त्ता के मस्तिष्क में किसी साकार स्वर्गस्थ चेतन 'इन्द्र' की कल्पना है, जिस कारण से विद्युत् अर्थ की उपेक्षा की

ममरकोषे अस्ति शची यस्य भार्या, पुत्रो जयन्तः वज्रमस्त्रम्, वाहनमैरावतो हस्ती, पुरी अमरावती, नन्दनश्च वनमिति वर्णितम्, परं तत्तु वस्तुतः आलङ्कारिकमेव न वास्तविकमिति सामश्रमो महोदयः स्पष्टं प्रोक्तवान्, तथाहि :—'एवमपि पुराणादौ अग्न्यादीनां सर्वेषामेव देवानां स्वर्गस्थत्वं, तत्राऽपि पृथक् 'पृथक्' लोक संस्थत्वं यद् वर्णितं तदवास्तविकम् । अपि च तेषां पुत्र-कलत्र-गोत्रादिमत्वं, यानाशन-रागद्वेष-सन्तोषादिमत्वं चैतत् सर्वं रूपकादिजं, कल्पनाप्रसूतं कविकर्मैव ।······पौराणिकदेवताऽऽकारादिकल्पनाऽपि नूनं वेदविज्ञानग्रहणासमर्थमतीनां स्त्रीशूद्र-द्विज-बन्धुरूपाणां बालधियां धर्मोपदेशादिसाहाय्यायैव । तथैव विद्यापद-पर्यायवेदाध्ययनहीनाः बालाः कल्पित-देव-स्वरूपादौ विश्वसन्त्येव, परं न तथा देव-स्वरूप-प्रत्यक्ष-दर्शिनो विद्वांसो वैदिकाः ।' (ऐतरेया० पृ० १७०)

अथापि इन्द्रविषयक-भ्रान्त्यपनयनाय विशिष्टं प्रस्तूयते । तथाहि सूर्यस्याप्यन्यतमं नाम इन्द्र इति यथाहि निरुक्ते—इन्दवे द्रवतीति वा,

---

बात कही है । जिसका वर्णन अमर कोष में यथा इन्द्राणी उसकी पत्नी है, पुत्र जयन्त है, वज्र अस्त्र है; वाहन ऐरावत हाथी है, नगरी अमरावती है और नन्दन वन है' ऐसा किया है । परन्तु वास्तव में यह सब आलंकारिक है, जैसा कि सामश्रमी महोदय ने स्पष्ट कहा है:—'इस प्रकार पुराण आदि में सब अग्नि आदि देवताओं का स्थान स्वर्ग है, वहाँ पर भी पृथक्-पृथक् जो लोक संस्थत्व वर्णित है, वह सब अवास्तविक है । इसी प्रकार अनेक पुत्र कलत्र आदि का होना, यान, अशन, राग, द्वेष, सन्तोष आदि का होना यह सब रूपक है और कल्पना-जन्य कवि का कर्म है ।······पौराणिकों की देवताओं के आकार की कल्पना भी निश्चित ही वेद-विज्ञान के ग्रहण करने में असमर्थ बुद्धि वाले, बालबुद्धि स्त्री शूद्र द्विज बन्धुओं की धर्मोपदेश की सहायता के लिये ही है । इसी प्रकार विद्यापद के पर्यायवाची वेद के अध्ययन से शून्य बालक, देवताओं के कल्पित स्वरुप में विश्वास करते हैं । प्रत्यक्ष स्वरूप के दर्शन के इच्छुक वैदिक विद्वान् विश्वास नहीं करते । (ऐतरेया. पृ.१७०)

इसके अतिरिक्त इन्द्र विषयक भ्रान्ति को हटाने के लिये कुछ विशेष कथन प्रस्तुत है, जैसे कि सूर्य का भी एक नाम 'इन्द्र' है । निरुक्त में इसकी

इन्दौ रमते इति वा, इन्धे भूतानि इति वा स इन्द्रः (निरु० १०।१।८) अर्थात् इन्दु सोमं पातुं द्रवति, इन्द्रौ सोमे रमते इति, भूतानि स्थावरजङ्गमानि इन्धे दोपयति चेति इन्द्रः सूर्य इति हि तदर्थः।

अधियज्ञपक्षे 'इन्दु' शब्दस्य सोमवल्लीरसोऽर्थो गृह्यते। अधिदैवत पक्षे तु इन्दुश्चन्द्रमा ग्राह्यः, अतएव श्रुतं 'इन्द्रः सोमस्य काणुका' इति, अत्राह, गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।' इति (ऋग् सं० १-८४-१५) सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इति च (वा० सं० १८।४०)। निरुक्तकारेण चैतत्स्पष्टीकृतं—'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपोक्षितव्यम् आदित्यतोऽस्य दीप्ति र्भवतीति (नि० २।२।२)।

असावेव इन्द्रः सहस्ररश्मिरिति सहस्राक्षोऽपि वा उच्यते। स चायं द्युस्थ इन्द्र उत्तमः कथ्यते अन्तरिक्षस्थ इन्द्रस्तु मध्यमः।

तदेतयोरुत्तममध्यमयोरिन्द्र इत्येकनामानुरोधादभेद उपचरितोऽपि दृश्यतेऽनेकत्र। तत एवामरसिंहेनापि उभयेन्द्रनामान्येकपर्यायत्वेनोपनिबद्धानि यथा :-

इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः।'

आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षाः' इति (अमर को० १. १. ४१-४४)

निरुक्ति है इन्दु के लिये जो द्रवित होता है या इन्दु में रमता है या भूतों को दीप्त करता है अर्थात् वह इन्दु को सोमपान के लिये द्रवित करता है, इन्दु अर्थात् सोम में रमण करता है। स्थावरों और जङ्गमों को दीप्त करता है यह 'इन्द्र' सूर्यार्थक है।

अधियज्ञ पक्ष में 'इन्दु' का अर्थ सोमवल्ली-रस गृहीत होता है। और आधिदैवत पक्ष में चन्द्रमा। यह (ऋग् १।८४।१५) तथा (वाज स. सं. १८-४०) में वर्णित है निरुक्तकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि सूर्य की एक किरण चन्द्र में प्रकाशित होती है, फलतः चन्द्र की दीप्ति सूर्य से होती है। (नि० २।२।२)। यह इन्द्र सहस्ररश्मि और सहस्राक्ष भी कहलाता हैं यह द्युस्थानी इन्द्र (सूर्य) उत्तम है और अन्तरिक्ष स्थानी इन्द्र (विद्युत)मध्यम कहलाता है।

इस प्रकार इन उत्तम और मध्यम का एकनामानुरोध से अभेद अनेकत्र

एषु श्लोकेषु पञ्चत्रिंशदिन्द्रनामानि ज्ञापितानि। तत्र दिवस्पतिः वास्तोष्पतिः, सुरपतिः, हरिहयः, स्वराट्, आखण्डलः सहस्राक्षः इत्यादीन्युत्तमेन्द्रनामानि। मरुत्वदादीन्यपराणि तु मध्यमेन्द्रस्येति बोध्यम्। यच्च प्रसिद्धमिन्द्रपत्न्या नाम शचीति (अमर को० १-१-४५) यतश्चेन्द्र उच्यते शचीपतिरिति, तदपि कल्पितम्।

अस्ति निघण्टौ वाङ्नामसु पठितं शचीति (निघ० १-११-४६)। वाचोऽप्यन्तरिक्षस्थत्वेन इन्द्रसहचारित्वमपि भवत्येवेति स्वीकार्यम्। यदा चेन्द्रकृतान् मेघचालनान्मेघविदारणाच्च वृष्टिर्जायते, तदा तद्वाण्यपि तत्सहैव श्रूयत इत्येव सा माध्यमिकी वाक् मध्यमस्येन्द्रस्य सहधर्मिणीत्युपचर्यते। तथा च 'नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्। इति (ऋ,सं० ८-३२-१५)। अस्य वागधिपतेर्मध्मेन्द्रस्य 'सूनृतानां, प्रियसत्यात्मिकानां 'शचीनां, वाचां नियन्ता नियोगकारी 'न किः, न कोऽप्यन्यः, अपितु ता इन्द्रवाचः स्वत एव प्रवृत्ता आधिपत्यं कुर्वन्तीति हि तदर्थः।

एवञ्च वायोर्घात-प्रतिघातनैवाकाशाच्छब्दोत्पत्ति-स्वीकारात्

उपचरित है। वहीं से अमर सिंह ने उभयेन्द्र नाम पर्यायत्वेन सङ्कलित कर लिये है यथा-इन्द्र, मरुत्वान्, मघवा आदि। इन श्लोकों में ३५ नाम गिनाये हैं। दिवस्पति, वास्तोष्पति, सुरपति, हरिहय, स्वराट्, आखण्डल, सहस्राक्ष इत्यादि उत्तम इन्द्र के नाम हैं। मरुत्वान् आदि मध्यम इन्द्र के नाम हैं। जो इन्द्रपत्नी का नाम 'शची' है जिससे इन्द्र को शचीपति कहते हैं, वह भी कल्पित है।

निघण्टु में वाक् नामों में 'शची' शब्द पढ़ा है, और वाणी की भी अन्तरिक्षस्थ होने से इन्द्र की सहचारिता स्वीकार्य है। जब इन्द्रकृत मेघचालन से और मेघों के विदारण से वृष्टि होती है, तब उसकी वाणी भी सुनाई पड़ती है, यही वाक् मध्यम इन्द्र की सह-धर्मिणी के रूप में उपचरित होती है। (ऋग्वेद ८।४२।१५) में कहा है कि इस वागधिपति मध्यम इन्द्र की 'सूनृता' अर्थात् प्रिय सत्यात्मिका 'शची' है। अर्थात् इन वाणियों का नियन्ता कोई अन्य नहीं अपितु वे इन्द्र-वाणियां स्वतः ही प्रवृत्त होकर आधिपत्य करतीं हैं।

वायु के घात और प्रतिघात से ही आकाश से शब्दोत्पत्ति स्वीकार की

वायोरन्तरिक्षस्थत्वेन मेघदारकत्वेन च माध्यमिकेन्द्रत्वमिति स्वीकाराच्च स वायुरूप एव इन्द्रः शचीपतिरुच्यते ।

किञ्च अपरमप्यस्ति तत्र निघण्टौ २।१।२२) कर्मनामसु पठितं शचीतिपदम् । सर्वेषां च कर्मणामधिपतिः सूर्य एव, सविता वै प्रसवानामीशे''—इति (ऐत० १-३-५) श्रुतेः । तत्तापाभावादेव जीवशरीरं मृतं भवतीति च दृष्टं लोकवेदयोः, अतः सोऽप्याख्यायते शचीपतिरिति । तथा च तन्निगमः

"द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ।" इति (ऋ० सं० १-६२-१२)

अन्यच्चास्ति निघण्टौ प्रज्ञानामस्वपि पठितं शचीति पदम् (३-९-८) । ततः प्रज्ञावन्तो यजमानादयोऽपि शचीपतय एव ।

"याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत" इति (ऋ० सं० ३।६०।२) ।

अथाप्येवं यजमानादिवाचकत्वे शचीपतिबहुत्वेऽपि इन्द्राण्याः न बहुत्वं वेदेषु । तद्यथा

इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये ।

अग्नायीं सोमपीतये—इति (ऋ० सं० १-२२-१२) ।

गई है । इस प्रकार वायु के अन्तरिक्ष में स्थिति होने तथा मेघविदारक होने से माध्यमिक इन्द्र वायु को ही शचीपति कहा जाता है ।

निघण्टु (२।१।२२) में कर्मनामों में दूसरा 'शची' पद पढ़ा गया है । सब कर्मों का अधिपति सूर्य है, (ऐत. २-३-५) उसके तापाभाव से जीव का शरीर मृत हो जाता है, ऐसा लोक और वेद में देखा गया है । इस लिये वह (सूर्य) भी शचीपति कहलाता है । जैसा कि 'द्युमाँ असि-(ऋक् १।६२।१२) में प्रकट है ।

निघण्टु में प्रज्ञा नामों में भी 'शची' पद पढा गया है, (३.९.८) तब प्रज्ञावाले यजमान आदि भी शचीपति हुये इस विषय में यह ऋचा (ऋ.३-६० २) भी देखिये ।

इतने पर भी शचीपति-बहुत्व होने पर भी इन्द्राणी का वेदों में बहुत्व

अत्रेन्द्राणीत्युत्तमायाः, वरुणानीति मध्यमायाः अग्नायीति प्रथमाया एव देवशक्तेर्ग्रहणमिष्टम् । किञ्चान्यत्रैवमाम्नातम्

'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।

नह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।' (ऋ० सं०१०-८६-११) इति ।

तदत्र सूर्यस्य चिरमेकरूपत्वेन विद्यमानत्वात् तच्छक्तेरिन्द्राण्या अवैधव्यप्रवाद-मूलम् । माध्यमिकेन्द्रस्य मेघचालकवायोर्हि वर्षप्रति-रूपभेदात् तच्छक्तेः सुभगात्वायोगान्नास्ति इन्द्राणीति समाख्या, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरश्च सूर्य एव, न माध्यमिक इति च ध्येयम् ।

एवमपि यदमरसिंहेन शची-पर्यायत्वेन श्लोकितमिन्द्राणीति, तदिन्द्र-शब्दार्थैक्यभ्रमादेव । एवं 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः, (१-१-१८ २२, इत्यादिषु विष्णुपर्यायेष्वपि, परं विष्णुरिति सूर्यनाम, नारायण इति वायुनाम, कृष्ण इति मनुष्यनाम, तदेवमादयः पौराणिक-कालज-भ्रमा बाध्या इति दिक् ।

नहीं हैं। जैसे 'इहेन्द्राणी (ऋ. १-२२-१२) यहाँ इन्द्राणी उत्तम, वरुणानी मध्यमा तथा अग्नायी प्रथमा देवशक्ति का ग्रहण है।

अतः अन्यत्र (ऋ. १०, १२६, ११) सूर्य के चिरकाल तक एक रूप में विद्यमान रहने से उसकी शक्ति इन्द्राणी का भी चिर सुभगत्व कहा है । यही इन्द्राणी के अवैधव्य-प्रवाद में मूल है । माध्यमिक-इन्द्र, (मेघचालक) वायु का प्रतिवर्ष रूप-भेद होने से उसकी शक्ति सुभगात्व का योग न होने से 'इन्द्राणी' यह समाख्या नहीं है सबसे श्रेष्ठ इन्द्र सूर्य है न कि माध्यमिक, यह ध्यान रखना चाहिए ।

इस प्रकार भी अमरसिंह ने 'शची' के पर्याय रूप में 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' यह श्लोक बनाया है, यह इन्द्र शब्द के अर्थैक्य के भ्रम से किया है। इस प्रकार 'विष्णु, नारायण और कृष्ण, विष्णु पर्यायों में पढ़े हैं । वस्तुतः विष्णु सूर्य-नाम, नारायण वायु-नाम, कृष्ण मनुष्य नाम हैं, परन्तु उक्त प्रकार के पौराणिक काल के अनेक भ्रम हैं ,

इस प्रकार इन्द्रादि देवता वाले मन्त्रों में बहुत स्थानों पर जो उनकी पुरुषाकार की विग्रह (शरीर) वता. हिताहित लक्षण वाली चेतनावत्ता, चेतना-

नन्वेवमिन्द्रादिदैवतमन्त्रेषु बहुत्रैव यत्तेषां पुरुषाकार-विग्रहवत्त्वम्, हिताहितविवेकलक्षणचेतनावत्त्वम्, चेतनावत्पुरुषव्यवहार्यद्रव्यान्वितत्वम्, तादृशकर्मकर्त्तृत्वञ्च गम्यते, तत् कथमुपपद्यते ? इति चेदत्र निरुक्तकारो यास्क एव दत्तोत्तरः । तथाहि :—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरमपितु यद् दृश्यतेऽ पुरुषविधम् । तद्यथाऽ ग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति" तथा चैषामग्न्यादीनां पुरुषाकार-बिग्रहवत्त्वं प्रत्यक्षविरोधान्नेत्येव सिद्धान्तितम् । तदेवं मन्त्रेषु यदेषां पुरुषविधत्वमुपलभ्यते, तत्काल्पनिकमेवेति ।

अथ चेतनावत्त्ववर्णनं च तेषां तथैवेत्याह अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्ष-प्रभृतीन्योपधिपर्यन्तानि इति । अथाऽयुधादि द्रव्यान्वितत्व-श्रवणमपि तेषां तथैवेत्याह एतदपि तादृशमेव, सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्" इति नदी स्तुतिः तथा कर्मकर्त्तृत्वमपि तेषां तथैवेत्याह—'एतदपि तादृशमेव । यथा'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिः । (निरु० ७-२-३)

सम्प्रति सुधियो निर्णेष्यन्ते यन्महर्षि-दयानन्दकृत एवार्थः सत्योऽस्ति, वेदार्थ-पारिजातकृतस्त्ववास्तविकः कपोलकल्पनामूलकश्च । "दयानन्दस्तु प्रजापालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा' इत्याह तत्तूपेक्ष्यमेवेति तत्तूपेक्ष्यमेव ।"

युक्त पुरुष के व्यवहार-योग्य द्रव्यवत्ता और वैसे कर्म का कर्त्तृत्व ज्ञात होता है, वह कैसे उत्पन्न होता है ? इस पर निरुक्तकार कहते हैं (७-३-३) यथा अपुरुषविध अग्नि, वायु, आदि आदित्य, चन्द्रमा-इनका पुरुषाकारत्व प्रत्यक्ष-विरोधी है । मन्त्रों में जो पुरुषविधत्व उपलब्ध होता है, वह काल्पनिक ही है, और उनका चेतनावत्त्ववर्णन उसी प्रकार है, यथा 'अचेतन की भी चेतनवत् स्तुति की जाती है, जो अक्षादि से लेकर ओषधि पर्यन्त है' और आयुधादि का द्रव्यत्व श्रवण भी उसी प्रकार (नदी स्तुति में) हैं तथा ग्राव (पाषाण) स्तुति में भी कर्मकर्त्तृत्व है।

अब बुद्धिमान् व्यक्ति निर्णय करलेंगे कि महर्षि दयानन्द–कृत अर्थ ही सत्य है और वेदार्थ-पारिजातकर्ता का अर्थ अवास्तविक और कपोल कल्पित है ।

(पृ० ६१३ अनु० ३) यदुक्तं 'प्रकृते पशूनां यज्ञत्वमेवोक्तं न प्रजापतित्वम्, इति (उ० प्र०) तदसत्, 'यज्ञः प्रजापतिरिति पाठस्यात्रैव महता कण्ठरवेणोक्तत्वात् ।

(पृ. ६१६) यदुप्यच्यते "स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते" इत्यस्य व्याख्यानं दयानन्देन ऋषिणा न कृतं तदर्थाज्ञानात्" इति । तदप्ययुक्तमेव, ऋषिणा यावदावश्यकस्य संक्षेपेण तत्र व्याख्यातत्वात् । उपास्यत्वस्य च यदा प्रश्न उद्भवति तदा नेमे देवा उपास्याः, केवलं ब्रह्मैवोपास्यमित्याशय ऋषेः ।

तथा चाग्रे बृहदारण्यकेऽपि (३।६।२६) शङ्कराचार्येण स्वयमेवा कल्पितम्, "एतदुक्तं भवति शरीरहृदयवायवोऽन्योन्य-प्रतिष्ठाः, सङ्घातेन नियता वर्त्तन्ते विज्ञानमयार्थप्रयुक्ता इति । सर्वमेतद् येन नियतं यस्मिन् प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं प्रोतं च, तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मणो निर्देशः कर्त्तव्य इत्ययमारम्भः" इति ।

(पृ०६१३) यह कथन कि दयानन्द ने यहाँ कहा है कि प्रजा का पालन कर सकने के कारण पशु और यज्ञ को यहाँ पर गौण रूप से प्रजापति कहा गया है यह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृत में पशुओं का यज्ञत्व ही कहा गया है न कि प्रजापतित्व । सो यह करपात्र-कथन असत्य और अनाधार है, क्यों कि 'यज्ञः प्रजापतिः, यह पाठ उच्च स्वर से यहीं किया गया है ।

(पृ०६१६) यह कथन कि 'स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते' इसका व्याख्यान स्वा० दयानन्द ने उसका अर्थ न जानने के कारण नहीं किया, ठीक नही है, यह तो आपका अज्ञान है, ऋषि ने प्रसङ्गवश जितना आवश्यक समझा संक्षेप से व्याख्यात कर दिया । उपास्यत्व का जब प्रश्न उठे तब ये उक्त ३३ देव उपास्य नही हैं, केवल ब्रह्म ही उपास्य है वहाँ यह आशय है ।

आगे बृहदारण्यक (३।६।२६) में भी शंकर ने स्वयं विचार किया है यहाँ कहा गया है कि शरीर, हृदय और प्राण ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमय के लिये प्रयुक्त होकर संघात रुप से नियत हैं । यह सब जिसके द्वारा नियत है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं और जिसमें आकाश पर्यन्त सब ओत प्रोत हैं, उस निरुपाधिक साक्षाद् अपरोक्ष ब्रह्म का निर्देश करना है, इस लिये यह आगे, प्रारम्भ किया जाता है" ।

स प्राणोऽपरं ब्रह्मे त्याचक्ष्येत, परं परब्रह्मत्वेन "स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्त-प्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्" इति प्रोक्तं महर्षिणा, प्रमाणं चेहोपन्यस्तम् तेन।

"योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (श. कां १४ अ. ४)। तदेवमनेन बहुदेवतोपासना-खण्डनमेव व्यधायि स्वामिना। प्राणवाङ्मन आदीनां ब्रह्मत्वेऽपि उपास्यत्वे तु परब्रह्मैवेति सिध्यति। ओ३म् खं ब्रह्मे त्यादिवेदवचनैर्ब्रह्मण एवोपासनातिशयस्य तत्र कथनीयत्वात्।

किञ्च, अग्न्यादयः देवा अन्तश्चेतना विग्रहवन्तश्चेत्युक्तिस्तु भवतोऽज्ञानविजृम्भितैव। सद्य एवोपरि सप्रमाणमेषां चैतन्यं विग्रहवत्वञ्चाऽपि कल्पितत्वादवास्तवमेवेति साधितम्।

जडार्चनापरायणास्त्रयस्त्रिंशतामपि देवानामीश्वरस्थाने उपासनां विदधति, अतो देवचर्चा-प्रसङ्गे प्रश्नमुद्भाव्य स्वामिदयानन्द उपास्यं निर्दिशति समाधाने देवदेवं परेशमिति।

न कापीहाप्रासङ्गिकता। प्रश्नोद्भावने तु बीजमिह, अथर्ववेदे (उद्धरणे) देवताचर्चायां २२ तमं मन्त्रं यावत् 'स्कम्भं तं ब्रूहि' इत्यात्मकेनांशेन सकल-विश्वधातुर्जिज्ञासा कृता। २३ तमे च मन्त्रे प्रश्नोऽस्ति यत् को विजानाति संसार-कोशं यं देवा अभिरक्षन्ति? एवमिह स्वाभाविकः प्रश्नोद्भवः यत् किमुपरि वर्णिताः समेऽपि देवा उपास्याः? (२४ तमे) मन्त्रे च समाधानम् यत् 'यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्मज्येष्ठमुपासते' इदमेव च स्वामी दयानन्दः शतपथ व्याख्यायां प्रस्तौति, तत् सर्वथा प्रसङ्गमेवानुबध्नाति न वैदिकशब्द बहिर्भूतं किमपि।

यच्च (पृ. ६११ पं० १६) उच्यते 'नात्र त्रयस्त्रिंशत् संख्यानां देवानां प्रतिपादनम्' तदसत्, यतोहि स्वामिदयानन्दस्तु (शत. १४।६।३-७, ९, १०) स्थलं सन्दृभ्णाति, कः प्रसङ्गः पुनर्विरोधस्य?

किञ्च, यदुक्तं (पृ० ६१५ पं० १५) 'नात्र मध्येऽकस्मादेव किमेते सर्वे एवोपास्याः सन्तीति प्रश्नः सम्भाव्यते, इति तु तद्वचसोऽनुर्वरमस्तिष्कोद्भूतत्वात्। दूरदर्शी आचार्यो दयानन्द इच्छति यदल्पमतिका अन्यत्रजडदेवोपासनरताः न भवेयुरिति एकस्यैव देवस्य समुपासनं वेद-

---

वह प्राण अपर ब्रह्म कहा जाता है, परन्तु परब्रह्मरूप से वही एक उपास्य है, अतः ऋषि दयानन्द ने लिखा कि 'वही एक चौंतीसवां देव वेदोक्त सिद्धांतों से प्रकाशित परमेश्वर देव सबका उपास्य है, यह मानना चाहिए। इसमें प्रमाण दिया कि जो अन्य देवों की उपासना करता है वह देवों का पशु है, इसके द्वारा स्वामी जी ने बहुदेवोपासना का खण्डन कर दिया। प्राण, वाणी, मन आदि का ब्रह्मत्व होने पर भी उपास्य देव वह परब्रह्म ही है। ओ३म् खं ब्रह्म' आदि वचनों से उसी की उपास्यता की अतिशयता है।

'अग्नि आदि देव अन्तश्चेतना वाले शरीरधारी है, यह आपका कथन अज्ञानजनित है, अभी ऊपर ही इन देवों का चेतनत्व और शरीरधारी होने का खण्डन किया गया है।

जड़ पूजा-परायण लोग ३३ देवों की भी ईश्वर के स्थान पर उपासना करते है, अतः देव-चर्चा के प्रसङ्ग में स्वामी जी प्रश्न उद्भावित कर समाधान में देवाधिदेव परमेश्वर का उपास्यत्वेन निर्देश करते हैं।

आपकी कथित अप्रासङ्गिता यहाँ कुछ भी नहीं है। स्वामी जी द्वारा प्रश्न उठाने में कारण इस उद्धरण के प्रासङ्गिक अथर्ववेद में देवता-चर्चा में २२ वें मन्त्र तक 'उस स्कम्भ को बताओ' इस अंश के द्वारा सकल विश्व के के धारक की जिज्ञासा की गई है और २३ वें मन्त्र में यहाँ प्रश्न है कि उस निधि को कौन जानता है जिसकी सब देवता अभिरक्षा करते हैं। इस प्रकार यहाँ उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या ऊपर वर्णित सब देव उपास्य हैं? २४ वें मन्त्र में समाधान किया है कि विद्वान् ब्रह्मज्ञानी सब में ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं,।

स्वामी दयानन्द शतपथ की व्याख्या में यही बता रहे है, यह बताना सर्वथा प्रसङ्गोपात्त है। वैदिक शब्दों से बहिर्भूत कुछ नहीं है। और पृ० ६११ पंक्ति १६ में यह कहना कि यहाँ ३३ संख्याक देवताओं का प्रतिपादन नहीं है यह बात असत्य है। स्वामी जी ने शतपथ (१४।६।३।७, ९, १०) स्थल का सन्दर्भ दिया है। फिर विरोध का क्या प्रश्न? और पृ० ६१५ पं० १५ में यहाँ मध्य में अकस्मात् क्या ये सभी देव उपास्य हैं? यह प्रश्न ही सम्भव नही है, यह कथन, अनुर्वर मस्तिक का हो सकता है। दूरदर्शी आचार्य दयानन्द

विहितं स्मारयति । ऋषिणा तु सर्वत्र उपासनायाम् प्रजापत्यादिशब्दैः ईश्वरार्थ एव गृह्यते, ततः 'त्रयस्त्रिंशतास्तुवत' इति प्रमाणं परमेशस्तवन एव प्रस्तुतम् ।

(पृ० ६१६ अनु० २) यदुच्यते 'सगुणसाकारब्रह्मरूपेण (पर ब्रह्मापि उपास्यते" इति, तदयुक्तम्, ब्रह्मणः साकारत्वे सावयवत्वे च विनाश्यत्वापत्तेः। नहि विनश्वरः पदार्थो मोक्षकामिन उपास्यो भवितुमर्हति । नो वाऽभिप्रायः क्वापि विग्रहवच्छब्दस्य भोगायतनं-शरीरमिति, विदुषोजनान् ब्रह्म चातिरिच्यान्यसूर्यादयो देवा अचेतना एव । किञ्च—

> प्रासङ्गिकं समुपयुक्तमृषेर्वचस्त्वम्,
> आस्थाऽ प्रसङ्गकमयुक्तमयुक्तमेतत् ।
> किञ्चिद् विचारय सखे ! यदसूयया वै,
> पश्यस्यनल्प-गुणगर्वित-वाचि दोषान् ॥

(पृ० ६१० अनु० ३) भूमिका पाठ :—'देव शब्दे दिवुधातोः क्रीडा विजिगीषादिरूपा सर्वेऽर्थाः सङ्गच्छन्ते ।……तस्य सर्वानुषङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात् ।

चाहते हैं कि अल्पबुद्धि लोग अन्य जड़ देवों की उपासना में रत न होवे, अतः एक ही देव की उपासना वेद विहित है, यह स्मरण दिलाते हैं । महर्षि ने तो सर्वत्र उपासना ज्ञान काण्ड में प्रजापत्यादि शब्दों से ईश्वरार्थ ही ग्रहण किया है । तब त्रयस्त्रिंशतास्तुवत, मन्त्र में भी परमेश्वर स्तवन ही माना है ।

(पृ० ६१६ अनु० २) 'सगुण तथा साकार ब्रह्म रूप से ब्रह्म की उपासना की जाती है, यह कथन अवैदिक है, क्यों कि ब्रह्म की साकारता और सावयवता मानने पर उसका विनाश भी प्राप्त होने लगेगा । मोक्षार्थी को विनश्वर पदार्थ उपासनीय नहीं हो सकता । कहीं पर भी ब्रह्म की विग्रहवत्ता से भोगायतन शरीर का अर्थ नहीं है । विद्वान् तथा देवाधिदेव परमेश्वर को छोड़ अग्नि, सूर्य आदि सभी अचेतन देव हैं । तथा 'ऋषि दयानन्द' के समुपयुक्त प्रासङ्गिक वचन को तुम अप्रासङ्गिक और अयुक्त कहते हो । यह ठीक नहीं । मित्र कुछ तो विचार करो कि अनल्प गुणों से गौरवान्वित वाणी में जो असूया के कारण दोषों को देख रहे हो ।'

अत्राक्षेप :—तदपि यत्किञ्चद्देवशब्दस्य योगरूढस्त्वाङ्गीकारात् अन्यथा द्यूतपरायणा मत्तादयोऽपि देवशब्द व्यपदेश्याःस्युः । सर्वोत्पादकत्वाधारकत्वादिति प्रयोगस्तु निरर्थको गौरवावहश्चेत्यादि ।

समा०—इदं कथनं तु तात्पर्यानवगमात् । सर्वोत्पादक-धारकयोः शब्दयोर्विशिष्टार्थ-प्रतिपादकत्वात् । यश्चोत्पादकः स एव धारकोऽपि, उत्पादकत्वे सति धारकत्वमपि परमेश्वरदेवस्यैव सम्भवति । न च तथा कुम्भकारो यत् किमपि रचयति तत्सर्वं धारयति, यन्नाम धारयति न च तत् सर्वमुत्पादयति, इति भेदाऽऽकलनायाऽपि हेतुरयमुक्तः । परमेश्वरदेवः सर्वेषामुत्पादको धारकश्च । न चैकतर प्रयोगेण समग्रं तात्पर्यम् निष्कृष्यते । वेदेऽपि 'सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इत्यत्र धातृत्वेन धारकत्वम्, । 'अकल्पयत्' इत्यनेन च उत्पादकत्वमस्ति ।

(पृ०६१७ अनु० ३) भूमिका पाठ 'देव शब्द में दिवु धातु के क्रीडा, विजिगीषा आदि सब अर्थ सङ्गत होते हैं व्यवहार और परमार्थ दोनों में घटते हैं । परन्तु अन्य देवता परमेश्वर द्वारा प्रकाश्य हैं, ईश्वर स्वयं-प्रकाशित है । क्रीडा, विजिगीषा व्यवहार, स्वप्न और मद ये लौकिक व्यवहार सिद्ध्यर्थ हैं । वह ईश्वर सब में अनुषङ्गी है और उत्पादक व धारक है ।, ठीक नहीं अन्यथा द्यूत जुआ खेलने वाले, प्रमत्त आदि भी देवशब्द से गृहीत होने लगेंगे । सबका उत्पादक और धारक कथन करना निरर्थक तथा गौरवावह है ।

समा०—उक्त वचन तो तात्पर्य न समझने के कारण है श्रीमान् जी ! सबका उत्पादक और धारक इन दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्टार्थ का द्योतक है क्योंकि यहाँ पर जो (सृष्टि का) उत्पादक है वह धारक भी है । उत्पादक होने पर धारक होना परमेश्वर देव का ही हो सकता है । उस प्रकार कुम्हार जिन वस्तुओं को बनाता है उन सबको धारण नहीं कर सकता और श्मश्रु, कुण्डल आदि को धारण करता है निर्माण नहीं करता । इस भेद को समझाने के लिये भी यह हेतु दिया है । परमेश्वरदेव तो सबका उत्पादक और धारक भी है । इन दो में से एकतर के प्रयोग से तात्पर्य नहीं बनता । वेद में भी 'सूर्याचन्द्रमसौ इस मन्त्र में धाता से धारकत्व और अकल्पयत्' से उत्पादकत्व है ।

यह जो देव शब्द की योगरूढता आपने कही है, वह रूढता लोकव्यवहार

(पृ० ६१८) यदाह— 'देवशब्दस्य योगरूढत्वमिति" तन्न युक्तं । यतोहि तत् लोक-व्यवहार-प्रयोगे जायते, न नु वेदे, सर्वेषां शब्दानां वेदे यौगिकत्वात्, वेदशब्देभ्यो लोके सञ्ज्ञाकरणत्वाच्च । यच्चोक्त मन्यथा द्यूत-परायणा अपि देवा भविष्यन्ति इति, तदेतत्तु तात्पर्यग्रहे भवतस्त्वभीष्टमेव, भवदभिमतदेवानाम् द्यूतपरायणत्वात् । यथाहि ब्रह्मपुराणे—

शङ्करश्च पुरा द्यूतं, ससर्ज सुमनोहरम् ।
कार्त्तिके शुक्लपक्षे तु, प्रथमे चाहनि भूपते ॥
जितश्च शङ्करस्तत्र जयं लेभे च पार्वती ।
अतोऽर्थाच्छङ्करो दुःखी, गौरी नित्यं सुखोषिता ॥
तस्माद्द्यूतं प्रकर्त्तव्यं प्रभाते तत्र मानवैः ।
तस्मिन् द्यूते जयो यस्य तस्य संवत्सरः शुभः ॥

कथयन्तु, एवंविधमेव रूढिग्रस्तं देवत्वं भवदीप्सितम् ? भवान् भीतोऽस्मादेव क्रीडाविजिगीषाद्यात्मकाद् यौगिकादर्थात् । भगवन् ! शङ्कराचार्योऽनुसरणीयोऽर्थावबोधेऽत्र, यथा "उद्धवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः" दीव्यति यत्क्रीडति सर्गादिति, विजिगीषति असुरान् व्यवहरति सर्वभूतेष्वात्मवत्तया. द्योतते स्तूयते सर्वत्र गच्छति तस्माद्देव इति (शाङ्कर भाष्यम्) ।

यच्चोच्यते 'वेदान्तदृष्ट्या सजातीयादि-भेदशून्ये द्युतिस्तुति-गुणाद्यसम्भवः इति, तत्तूपरिदर्शितशाङ्कर-भाष्य-विरोधात् प्रलाप एव । तत्र द्योतते स्तूयते इत्याद्यर्थदर्शनात् । वस्तुतो भवतो न नवीन-वेदान्तस्याऽपि ज्ञानमविकलम् । अक्षरज्ञानशून्या धनिका भवदीय-शब्दजालजम्बाले हि लग्ना जायन्ते नत्वधीतशास्त्रा विपश्चितः । का ह्यत्र भवतो वेदान्तदृष्टिः ? वस्तुतो वेदानाम् अन्तकृद् भवतोऽत्र दृष्टिः ।

(आक्षे०) यदपि "तत्सत्तया अन्यत्र द्युत्यादयो भवन्तीति तु न विचारसहम्, अन्यगुणैरन्यस्य गुणवत्त्वाऽसम्भवात्"

समा० —नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराध स भवतीति उक्त्या ऋषेराशयराशिमनवबुध्यमानोऽस्ति भवान् ।

में प्रयुक्त होने पर होगी, वेद में रूढ शब्द नहीं वेद के यौगिक शब्दों के अर्थों के आधार पर सृष्टि के पदार्थों का नामकरण कर लेने पर वे शब्द रूढ या योगरूढ हो पाते हैं । "द्यूतपरायण भी देव हो जायेंगे, यह आशंकित कथनार्थ तो आपको अभीष्ट ही है, क्योंकि आपके तो देवता भी जुआरी हैं । देखिये ब्रह्म पुराण में—

हे राजन् कातिक शुक्ल पक्ष प्रथम दिन' शंकर ने पहले मनोहर द्यूत (जुआ) चालू किया, पार्वती उसमें जीत गई और शङ्कर हार गये । इसलिये शङ्कर दुःखी हुये और गौरी प्रसन्न हुई । इसलिये मनुष्यों को प्रभात काल में जुआ खेलना चाहिए । उस द्यूत में जिसकी जय होगी, उसका संवत्सर शुभ होगा ।"

अब कहिए, ऐसा ही रूढिग्रस्त देवत्व आपको अभीष्ट है ? आप इसी (निम्न) यौगिक अर्थ से ही तो भयभीत हो गये कि जहां पर विजिगीषा और क्रीडा होगी वह द्यूत है । आइये, शङ्कराचार्य का कथन पढ़िये 'जो सृष्टि करके खेलता है, असुरों को जीतना चाहता है, सब प्राणियों में व्यवहार करता और प्रकाशित होता है, तथा जो सर्वत्र जाता या व्याप्त करता वा सब कुछ जानता है" अतः वह विष्णु 'देव' है ।

भूमिका का लेख "द्युति, स्तुति, मोद, कान्ति ज्ञान, प्राप्ति इत्यादि परमेश्वर में ही यथावत् संगत होते हैं, परमेश्वर से भिन्न प्राणी में उसी की सत्ता के कारण गौण प्रयोग होता है ।"

आक्षे०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से सजातीय, विजातीय, स्वगत इन तीनों भेदों से रहित असंग, नित्य, निर्गुण ब्रह्म में उससे भिन्न द्युति, स्तुतिआदि गुणों की सत्ता ही नहीं है ।"

समा० करपात्री जी का यह कथन उनके अवतार शंकराचार्य के भाष्य के विरुद्ध होने से प्रलापमात्र है, क्योंकि शंकर ने 'द्योतते' स्तूयते इत्यादि दिखलाये हैं । वास्तव में आपको तो नवीन वेदान्त का भी ज्ञान नहीं है । अक्षर ज्ञान शून्य धनिक आपके शब्द जाल के कीचड़ में हिलग जाते हैं । न कि अधीतशास्त्र विद्वान् । आपकी वेदान्त दृष्टि वस्तुतः वेदान्त वेदों का अन्त करने वाली ही है ।

आक्षे०—आत्मा की रक्षा से अन्यत्र द्युति आदि होते हैं, यह तर्क सम्भव नहीं है, क्योंकि एक के गुण से दूसरा गुणवान् नहीं हो सकता ।"

समा०—"यह स्थाणु का अपराध नहीं है जो कि अन्धा उसे नहीं देख पाता, यह तो पुरुष का ही अपराध है" इस उक्ति के अनुसार आप ऋषि के

आशयस्त्वेष एव यत् द्युत्यादयः पञ्चार्थाः परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या सङ्गच्छन्ते, अन्यपदार्थेषु द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, शोभा गतिर्वा विद्यते यावन्मात्रया वर्त्तते तावदेव देवत्वं तेषां, सर्वेषु द्युत्यादिकं निदधाति परमेश एव यथा :—

तद्भासितं सर्वं तत्स्तुत्या च स्तुतं समम्।
शोभते मोदते वाऽपि, तद्गत्या चैव गच्छति ॥

तथा च प्रमाणम्—(१) तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (कठो०५।१५)।

(२) ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥ (गी०)

अयं हि नवीन-वेदान्तो रज्जौ सर्पसत्ताभासरूपं समाधानमीहते, परं रज्ज्वाः सर्पस्य चोभयोः सत्तायामद्वैतसिद्धान्तविघात एव। यथा च रज्जौ सर्पभ्रमस्तथैव सर्पेऽपि रज्जुभ्रमः, अनयोर्नैकतरोऽपि काल्पनिको मन्तुं शक्यते, अस्तित्वस्य वास्तविकत्वात्।

(६१८ अनु० २) भूमिका पाठ :—"अत्र केचिदाहु :—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते"

आशय को नहीं समझ पाये। आशय यह है कि द्युति आदि ५ अर्थ परमेश्वर में मुख्य वृत्ति से सङ्गत हैं। अन्य पदार्थों में द्युति आदि जिस मात्रा में हैं, उतना उनका देवत्व होता है। परमेश्वर ने ही उन-उन पदार्थों में द्युति आदि का विधान किया है।

जैसे—उसके ही प्रकाश से सब प्रकाशित और उसकी ही स्तुति से सब स्तुत हैं, उससे ही शोभित, मोदित और उसकी गति से सब चलते हैं। इसमें प्रमाण है (१) उसके प्रकाश से सब प्रकाशित होता है (उपनि.) (प्रकाशों का भी प्रकाश वह अन्धकार से परे है।

यह नवीन वेदान्ती तो रज्जु में सर्पसत्ता के अवभास रूप समाधान को चाहता है। परन्तु रज्जु और सर्प दोनों की वास्तविक सत्ता होने से अद्वैत सिद्धान्त का विघात हो जाता है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार सर्प में भी रस्सी का भ्रम होता है। इन दोनों में एक भी अस्तित्व की दृष्टि से कल्पित नहीं माना जा सकता।

(६१८ अनु० २) भूमिका पाठ "कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि वेदों में जड़ और चेतन दोनों की पूजा का विधान है, अतः वेद संशयास्पद हैं। इस पर आपका आक्षेप है कि—

तत्राक्षेप :—तादृशसिद्धान्तस्यैव संशयास्पदत्वं न वेदानां संशयास्पदता। वेदानां विरुद्धाभिधायकत्वेऽपि तेषां प्रामाण्यस्यैव संशयास्पदता न वेदानां, तेषां स्वरूपस्य संशयानास्पदत्वात्।

समा०—अहो! इह तु भवद्बुद्धेर्निष्कोषतैव संपन्ना, यतो हि यथा कश्चित् कञ्चिदाप्तं प्रति कथयेत् यदयं तत्र तत्र मृषावादीति वचनेन 'तत्र तत्र, अतिरिच्य सर्वत्र एतस्याऽऽप्तत्वम्। यथा नैषोक्तिर्युक्तियुक्ता तथैव ईश्वरीयज्ञान वेदानाममुकविषये त्वप्रामाण्यं तद्विषये प्रामाण्यस्य, संशयास्पदत्वात्।" एतेन वेदत्वं न विहतं मन्येत; परमप्रामाण्यमेवाङ्गीक्रियेत वेदानाम्, तदा किमेतत्तर्कसङ्गतम्? कथमपि नैव। यद्येकस्मिन्नपि विषये वेदानामप्रामाण्यं, कथं न तर्हि तेषां वेदत्वं विहन्येत? न्यायमतेऽपि 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तिदोषेभ्यः, इत्येतत् कस्यचिद् ग्रन्थस्यैकदेशे न घटते, प्रत्युत एकेन विरचिते ग्रन्थ-समुच्चय एव।

(पृ० ६१८ अनु १) आक्षे०—वेदेषु जडचेतन-पूजाऽभिधानाद् वेदा संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति संशयोत्थापकवाक्यं, तदपि न

वैसे सिद्धान्त की ही संशयास्पदता है न कि वेदों की, वेदों के विरुद्धाभिधायी होने से उनका प्रामाण्य ही संशयास्पद है न कि वेदों की संशयास्पदता है क्योंकि वेदों का स्वरूप संशयास्पद नहीं है।

समा०—वाह! यहाँ तो आपकी बुद्धि का दिवाला ही निकल गया, जैसे कोई किसी आप्त पुरुष के प्रति कहे कि यह 'वहाँ वहाँ मृषावादी है। यहाँ वहाँ को छोड़कर इनका सर्वत्र प्रामाण्य है, जैसे यह कथन युक्तियुक्त नहीं, उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान वेदों का अमुक विषय में आपको प्रामाण्य संशयास्पद है। इससे वेदत्व तो नष्ट न माना जाय, पर वेदों का अप्रामाण्य स्वीकार कर लिया जावे, क्या यह ठीक होगा? किसी प्रकार भी नहीं। यदि एक विषय में भी वेद का अप्रामाण्य मान लिया जायेगा तो ईश्वरीय ज्ञान वेद का वेदत्व अक्षत कैसे रहेगा?

न्याय मत में भी 'तदप्रामाण्यम् यह किसी एक देश में घटित नहीं किया जाता, प्रत्युत एक के द्वारा निर्मित ग्रन्थ समुच्चय में घटित होता है।

(पृ० ६१८) यहाँ भूमिका में प्रश्न है कि वेदों में चेतन तथा जड़की पूजा का विधान है, तो संशय यह होता है कि इन दोनों में किस की पूजा

युक्तं, विकल्पानुपपत्तेः, इत्याक्षेपस्तु अविचारचारुः । चेतनब्रह्मातिरिच्य जड-पूजाया अप्युपस्थितत्वात् तद्विधानाप्रामाण्यप्रतिपाद्यत्वात् विकल्पोपपत्तेः । अतएव ऋषिः स्पष्टतया प्रत्यपादयत् तत्तद्वस्तुनो गुणानामुपयोगः सत्कारो वा पूजैव । परं यत्र यत्र उपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैवेति ।

(पृ० ६१९ अनु० १)- भूमिका पाठः, "ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात् यथा चक्षुषि रूपग्रहण-शक्तिस्तेन रक्षिताऽस्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति"

(आक्षे०) तदप्यसम्बद्धमेव, वाक्यानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्यात् । पदार्थेषु स्वातन्त्र्यं परमेश्वराधीनं तदा कथं स्वातन्त्र्यम् ?

समा०—'वल्गाविरहितो वाजी, यथा स्वैरंगमी'भवेत् ।
तथैव प्रलपेद् यत्तत्, कुतर्कप्रवणं मनः ॥

करनी चाहिए ? इस पर आपका आक्षेप है कि यहाँ विकल्प नहीं उठता । सच तो यह है कि आपका यह आक्षेप तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि दोनों में से किसकी उपासना करनी चाहिए ? यह क्या विकल्प नहीं है ? अतः ऋषि ने स्पष्ट किया कि उस र वस्तु के गुणों का सत्कार या उपयोग यथावत् करना भी पूजा है । परन्तु जहाँ-जहाँ उपासना का विधान है वहां वहां देवतारूप में ईश्वर की ही उपास्यता है । आप तो इस वाक्य को अतएव ठीक नहीं मानते, क्योंकि आप जड़ोपासक हैं । जड़ोपासकों को ऋषि ने अनाड़ी बताया है ।

(६१ अनु०६ १) भूमिका पाठ का आशय है 'ईश्वर ने सभी पदार्थों में स्वातन्त्र्य रखा है, जैसे चक्षु में रूप ग्रहण की शक्ति उसने रक्खी है अतः नेत्रवाला देखता है, यह व्यवहार होता है ।

(आक्षे०)—यह भी असम्बद्ध है, क्योंकि वाक्यों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है । पदार्थों की स्वतन्त्रता यदि परमेश्वर के अधीन है तो स्वतन्त्रता कैसी ? प्रथम तो आप यह बताइये कि स्वामी जी ने कहाँ लिखा है कि पदार्थों की स्वतन्त्रता परमेश्वर के अधीन है । ठीक है—जैसे "बेलगाम घोड़ा स्वैरता से कहीं भी जा सकता है । उसी प्रकार कुतर्क करने पर तुली हुई बुद्धि कुछ भी प्रलाप कर सकती है । इस निर्मलोक्ति के अनुसार आप असम्बद्ध कह ही सकते हैं । आकाङ्क्षा का विरह कैसे और कहाँ है ? यह आपने

इति निर्मलोक्तिमनुसृत्य सर्वत्र असम्बद्धमेव वक्ति भवान् । यतोहि कथं क्व वाऽऽकाङ्क्षाविरह इति नादर्शयत् । वस्तुतस्त्विदमाकाङ्क्षापूरकं वाक्यं सुसम्बद्धमेव । इयमस्ति भावत्की विचारक्षमता यत्परमेशाधीनतायां जीवस्य स्वातन्त्र्यं भवान्न स्वीकुरुते ।

इदमपि वाऽविचारितमेव "यन्नैकत्र पारतन्त्र्यं स्वातन्त्र्यं वा तिष्ठति" इति । महोदय ! अस्मिन् क्वाऽस्ति दार्शनिकः प्रतिबन्धो यन्नैकत्र तिष्ठति तत् । किं जीवः कर्मकरणे स्वतन्त्रः फलभोगे च परतन्त्रो नैव विद्यते ? वस्तुतस्तु स्वाभाविक-गुणेषु परस्परविरोधिता नैकत्र तिष्ठति । यथा च प्रकृतौ न सर्जनविनाशौ स्वाभाविकौ प्रत्युत नैमित्तिकौ एव । यथा च गुरुकुलेऽपि वर्णी कस्यचिदपि विषयस्याध्ययने स्वतन्त्रः, परं नैव चलचित्रादिदर्शने स्वतन्त्रः, अपि तु परतन्त्र एव । तथा स्त्री च स्वदैनिकचर्यायां स्वतन्त्राऽपि परतन्त्रा, यथा

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
वार्धक्ये तनयो रक्षेत्, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (मनु० ९।३)

किञ्च 'व्याहतत्वादिति' भवतः पञ्चम्यन्तप्रयोगेणैव न हेतुता सिध्यति । चक्षुरादिषु या शक्तिर्निहिता परमात्मना तदनुकूलमेव कार्यं

नहीं बताया और यह है आपकी सोचने की शक्ति कि परमेश्वर की अधीनता में आप जीव की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं कर रहे हैं, क्या यह आपकी स्वतन्त्रता नहीं है ?

यह आपका अविचारित कथन है कि पारतन्त्र्य और स्वातन्त्र्य एकत्र नहीं रह सकते ।" महोदय ! इसमें (एकत्र न रहने में) दर्शन शास्त्र का क्या प्रतिबन्ध है ? क्या जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र नहीं ? वास्तव में स्वाभाविक गुणों में विरोधिता एकत्र नहीं रह सकती । जैसे प्रकृति में सर्जन और विनाश स्वाभाविक गुण नहीं है नैमित्तिक हैं । जैसे गुरुकुल में ब्रह्मचारी किसी विषय के पढ़ने में स्वतन्त्र है पर चलचित्र आदि देखने में परतन्त्र है । उसी प्रकार स्त्री दैनिकचर्या में स्वतन्त्र है पर वैसे परतन्त्र है । देखिये पिता के आधीन कौमार्य में, यौवन में भर्ता के रक्षण, में बुढापे में भी पुत्र की रक्षा में रहती है उसे कदापि स्वतन्त्रता नहीं ।

यहाँ 'व्याहतत्वात्' यह आपके द्वारा पञ्चम्यन्त करने मात्र से हेतुता सिद्ध नहीं हो सकती । चक्षु आदि में परमात्मा ने जो शक्ति रक्खी है, उसके

कर्त्तुं शक्यते न तद्विपरीतम् । भवानपि ऋषिं प्रति अपशब्दान् प्रयोक्तुमर्हः स्वतन्त्रतया, परं पारतन्त्र्यम् नैव तान् प्रत्यावर्तयितुं शक्नोति। एवमेकत्रैव स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं वा तिष्ठतीत्यसन्दिग्धम्, नहि कश्चिद् व्याघातः ।

यदुच्यते "चक्षुषि यदि ईश्वरेण शक्ती रक्षिता तदा न कदाऽपि तल्लोपः स्याद्' इति तु अज्ञानवचनम् । भगवन् ! अयं कस्य दर्शनस्य सिद्धान्तः प्रस्फुटीकृता भवता ? इयं हि विविधा सृष्टिर्जीवकर्मफलानुवर्त्तिनी । यथाह शङ्कराचार्योऽपि 'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' (वेदा० सू० २।१।३४) भाष्यं 'यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं वैघृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति । सापेक्षो हि ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते ।

किमपेक्षत' इति चेत् ? धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः, अतः सृज्यमान प्राणिविषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः ।.........

अनुकूल ही वह कार्य कर सकता है उसके विपरीत नहीं । आप में भी स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों एकत्र रह रहे हैं । जैसे आप ऋषि के प्रति अपशब्दों का प्रयोग तो कर रहे हैं, परन्तु आप उन्हें बोलने के बाद मुख में वापस नहीं ले सकते । इस प्रकार स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों एक साथ रह सकते हैं, कोई व्याघात नहीं ।

आपका यह कथन तो अज्ञान प्रेरित है कि "जब आंख में ईश्वर ने शक्ति दी है, तो ईश्वर रचित होने के कारण कभी लुप्त नहीं होनी चाहिए ।" भगवन् ! यह आपने कौन से दर्शन शास्त्र का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है ? यह विविध-परमाणु संयोगज सृष्टि तो जीव के कर्म के फलों की अनुबन्धिनी है जैसा कि शङ्कराचार्य भी कहते हैं ।

(वेदा० २।१।२४ भाष्य) —"यदि बिना कर्मों की अपेक्षा किये हुए ईश्वर सृष्टि को बनाता है, तो वैषम्य और नैर्घृण्य दोष सिद्ध होते हैं । परन्तु वह कर्मों से निरपेक्ष होकर बनाता । अपेक्षा रखकर हीईश्वर विषम-सृष्टि का निर्माण करता है ।

किसकी अपेक्षा रखता है ? इसके उत्तर में कहते है कि धर्म और अधर्म की अपेक्षा रखता है । अतः सृज्यमान प्राणियों की सृष्टि विषम है, ईश्वर का

देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तद्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति । प्राणि-कर्म-विशेषापेक्षमेवेश्वरस्याऽनुगृहीतृत्वं निगृहीतृत्वं च ।

ननु प्राक्सृष्टेरविभागात् नास्ति कर्म, यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः सृष्ट्युत्तरकालं च शरीरादि-विभागापेक्षं 'कर्म' कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभागः, इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत । 'न कर्मविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्, (वेदा० २।१।३५) ।

सत्यमिह निर्मलोक्तिरियं सङ्गच्छते :—

सत्ये ब्रह्मणि कल्पयन्ति नितरां नव्याश्च वेदान्तिनः,
संसारस्थितिवास्तवं ह्यसदिति प्रज्ञाप्रगल्भा यथा ।
तद्वत् सत्यसुयुक्प्रमाणलसितेऽस्मिन् विद्वदाराधिते,
भाष्येऽसद्भ्रमभासिताऽभवदियं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ॥

(६१६ अनु० २) पूर्वमस्माभिः मन्त्राणां विधायकत्वमपि प्रतिपादितमस्ति । तथा ऽप्ययमलब्ध-विधायकमन्त्रोपलब्धिः शङ्कातङ्क-

---

कोई अपराध नहीं है । देव, मनुष्य आदि के वैषम्य में तो तत्तद् जीवगत असाधारण कर्म ही कारण होते हैं । प्राणि कार्यों की विशेष अपेक्षा करके ईश्वर का अनुग्रह और विग्रह होता है ।

यदि कोई कहे कि सृष्टि से पूर्व तो कर्म थे ही नहीं, जिसकी अपेक्षा करके सृष्टि रची गई, क्योंकि सृष्टि हो जाने के बाद ही शरीरादि का विभाग होने पर कर्म हुये और कर्म होने पर शरीर हो सकते हैं । इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त हो सकता है ।

(उत्तर)—यह दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सृष्टि-प्रवाह से अनादि है ।

(वेदान्त २।१।३५) सत्य ही यहाँ निम्न निर्मलोक्ति संगत है "नव्य वेदान्ती सत्य ब्रह्म में प्रज्ञा से प्रगल्भ होकर पृथक् से संसार (प्रकृति) की स्थिति को वास्तविकता नहीं मानते । उसी प्रकार सत्य युक्त प्रमाणों से सुशोभित दयानन्द के भाष्य में, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान असद्भ्रमाभास आपको हो गया है ।"

(६१६ अनु० २) हमने मन्त्रों का विधायकत्व पूर्व सिद्ध कर दिया है, फिर भी इस लेखक को विधायक मन्त्रों की उपलब्धि नहीं हो पा रही है

कलङ्कितमतिब्रूते यत् 'न तत्र (वेदेषु) ईश्वरोपासनाविधानम्, परमिदंत्वज्ञान-विजृम्भितम्, वेदेषु ईश्वरोपासनाविधानोपलम्भात्। यथा —'विभूः प्रभुरिति त्वोपास्महे वयम् ? (अथर्व १३।४।४७)।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥
(ऋक् २।२६।३)

अर्थाद् यथा कश्चित् श्रद्धया देवपालकं ज्ञानेश्वरं परमात्मानमुपास्ते तस्य जीवनं सफलं भवति। अन्यदपि

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः॥ (अथर्व० १०।७।३८) अन्यच्च।

'एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः, एक एव नमस्यः सुशेवाः,' एतदाधृत्यैव शतपथोक्तिः "स योऽन्यां देवतामुपास्ते यथा पशुरेव स देवानाम्"। सम्प्रति भवानेव ब्रवीतु कतरा योनिरभिनन्दिता भवतः ?

यदुक्तं 'वस्ततस्तु ब्राह्मण-भागेष्वपि क्वचिदपि न जडस्य पूजोक्ता, यदीदं भवताऽपि सत्यं मन्यते तदा कथमीश्वरस्य स्थाने

तथा शङ्कातङ्क से कलङ्कित मति यह लेखक कहता है कि—

'उन वेदों में ईश्वर की उपासना का विधान नहीं है" परन्तु यह कथन अज्ञान-विजृम्भित है, क्योंकि वेदों में ईश्वरोपासना-विधान स्पष्ट उपलब्ध है। जैसे हे व्यापक प्रभो हम तुम्हारी उपासना करें अथवा करते हैं।

(अथर्व० १३।४।४७) 'स इज्जनेन'— अर्थात् जो श्रद्धा से देवपालक परमेश्वर की उपासना करता है, उसका जीवन सफल हो जाता है। और भी 'महद् (ऋक् १०।७।३८) तथा ऋषि की भूमिका के उपासना मन्त्र साक्षी और उदाहरण हैं। 'एक एव नमस्य' आदि भी अन्य प्रमाण हैं। वहाँ लिखा है 'जो अन्य देवता की उपासना करता है। वह देवों में पशु है। अब आप ही किस योनि को पसन्द करेंगे ?

यह कथन कि 'वास्तव में ब्राह्मण भाग में भी जड़ की पूजा कहीं नहीं है' इसे यदि आप मन, वचन, कर्म से सत्य मानते हैं, तो ईश्वर के स्थान पर

जडप्रतिमा-पूजनं विदधाति भवान् ? अन्यथा मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यदिति लक्षणं घटतां भवति। अतो भवता मनोवचः-कर्मभिः सर्वव्यापकस्य परमात्मन एवोपासना विधेलिमा, न वान्येऽपि भ्रामयितव्याः कुतर्कवाग्जालकुचक्रे।

(६२०)—यदुक्तं "किन्तु तदधिष्ठातृ-देवस्यैवोपासन-विधानादिति निरुक्तादि-सिद्धान्तनिरूपणेन पूर्वमेवोक्तम्"। इदमल्पश्रुतम्, निरुक्तादेरधिष्ठातृत्व-प्रतिपादनस्य जडवस्तुनि ईश्वरस्योपास्यत्वेनाविधानात्। भवदुक्तौ विपर्ययवृत्तेरापाताच्च। सा हि द्विधा आहार्यानाहार्यभेदात्। स्वेच्छोत्पादिता वृत्तिराहार्या, स्वतश्चोत्पन्ना अनाहार्या। इयं द्विधाऽपि विपर्ययवृत्तिर्निरोध्यैव, अनर्थहेतुत्वात्।

यथा शालिग्रामादावीश्वरबुद्धिराहार्या, शुक्त्यादौ रजतादिबुद्धिरनाहार्या। अतो जडवस्तुनि ईश्वरबुद्धिर्मिथ्याज्ञानमेव।

ऋषिर्दयानन्दः प्रथममण्डलस्य प्रथम-सूक्त-व्याख्यायां स्पष्टमलिखत् अत्राग्निशब्देन परमार्थ-व्यवहार-विद्यासिद्धये परमेश्वर-

---

जड़ोपासना क्यों करते हो ? 'मन में अन्य और वचन तथा कर्म में अन्य, तो सत् पुरुषों का लक्षण नहीं। अतः आपको सर्व व्यापक परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिये और न अन्यों को भी कुतर्क वाग्जाल के कुचक्र में भ्रमाना चाहिए।

(पृ. ६२० प० २) 'किन्तु उनके अधिष्ठातृ-दैवत का उपासना-विधान निरुक्तादि-निरूपण में पूर्व ही कर चुके हैं, यह आपका कथन अल्पज्ञान का द्योतक है; क्योंकि वहाँ कहीं भी जड़ वस्तु में ईश्वर की उपासना करने का विधान नहीं है आपके कथन में विपर्यय वृत्ति आ गई है। वह दो प्रकार की है, (१) आहार्य और (२) अनाहार्य भेद से। अपनी इच्छा से उपपादित वृत्ति आहार्य होती है और स्वयम् उत्पन्न वृत्ति अनाहार्य कहाती है। ये दोनों प्रकार की वृत्ति अनर्थ-हेतु होने से निरोध्य है। जैसे-शालिग्राम आदि उपासना में आपकी वृत्ति आहार्य है तथा शुक्ति आदि में रजतादि बुद्धि अनाहार्य है, अतः जड़ वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि मिथ्याज्ञान ही है।

ऋषि ने प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की व्याख्या करते हुये स्पष्ट लिखा है कि 'यहाँ अग्नि-शब्द से परमार्थ और व्यवहार विद्या सिद्धि के लिये परमेश्वर

भौतिकौ द्वावर्थौ गृह्येते।" अग्निमीडे, इति मन्त्र व्याख्यायां श्री आनन्द-तीर्थोऽपि (मध्वाचार्य:) अलिखित्

यथैवाग्न्यादय: शब्दा: प्रवर्त्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्तिं वक्ष्यामो ज्ञानदां ज्ञानसिद्धये॥
इति तेनाग्नि-शब्दोऽयमग्र एवाभि पूज्यताम्।" इति

तदेदृशीं निरुक्तिं प्रदर्श्य प्रधानतया ईश्वरवाचकोऽग्नि-गौणतया भौतिकाग्निवाचको बोधित:। तथा सत्यार्थप्रकाशेऽपि 'जहाँ जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना विषय हैं, वहाँ २ सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टि कर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं। वहाँ इन नामों से परमेश्वर और उत्पत्ति, स्थिति प्रलय, अल्पज्ञ, जड, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हैं वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।, (समु० १)

६२१ अनु० २—आक्षे० 'वस्तुतस्तु, स्वामी दयानन्दे बाइबिल, कुरआनाद्यनार्यग्रन्थै: प्रभावितत्वादेव मतमिदमास्थितो यदीश्वराति-रिक्त: कश्चनोपास्यो नास्ति"

और भौतिक दोनों ही अर्थ गृहीत होते हैं। 'अग्निमीडे' की व्याख्या में भी श्री आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्यजी) का लेख भी ऋषि के समर्थन में प्राप्त है।

जैसे 'अग्नि आदि शब्द जनार्दन अर्थ में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार की ज्ञान दायक निरुक्ति हम कहेंगे। इस प्रकार 'अग्नि शब्द अग्रे ही पूज्य है और जो अग्रनेतृत्व को ले चलता है।' ऐसी निरुक्ति देकर अग्नि शब्द प्रधानतया ईश्वर वाचक और गौणतया भौतिकाग्नि का वाचक बताया है नाम भौतिक पदार्थों के होते हैं (सत्यार्थ प्रकाश में भी देखिये) अग्नि जल आदि परन्तु जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ परमात्मा और जहाँ २ इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ जीव का ग्रहण होता है।···जो ज्ञान स्वरुप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे परमेश्वर का नाम 'अग्नि है। (स०प्र०स०)

(पृ. ६२१ अनु. २ पं० ६) आ०-'वस्तुत. स्वामी दयानन्द बायबल कुरान आदि अनार्य-ग्रन्थों से प्रभावित होने के कारण कह रहे हैं कि ईश्वर के अति-रिक्त अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है।

समा०—इदं समग्रमेतस्य स्वोक्ति, विरुद्धं न केबलमज्ञान प्रसूतं, प्रत्युत कुत्सित-मनो-वृत्ति-विजृम्भितमपि। निर्मलोक्तिरपीयं लेखकं धिक्करोति यथा—

काषायाम्वरधारको लजयते हा साधुवेशं भृशम्,
गालीदानविडम्बिताधरवरोऽयं पाणिपात्र: सुधी:।
वेदेष्वेक परेशवादमपि यो नो, मन्यते शाश्वतम्,
ईसाई यवनै: प्रचालितमिमं, नव्यं समाभाषते।

वस्तुतस्तु आधुनिककाले स्वनामधन्य: प्रात:स्मरणीयो महर्षि दयानन्द एव विद्वच्छिरोमणिरभूद् यो वेदानां यथार्थं जनतासम्मुखे प्रत्यतिष्ठिपत्। तत्समये भारतीय-संस्कृतज्ञेषु वेदानां नितान्तमुपेक्षा-ऽऽसीत्; तात्कालिकमहाविदुषामपि न वेदार्थज्ञाने प्रवृत्तिरवर्त्तत, स्वामिविशुद्धानन्दो वालशास्त्री चापि दर्शनस्मृत्यनुशीलनशीलौ अपि वेदान् प्रत्युदासीनौ आस्ताम्। यत्र कुत्रचित् सायणमहीधरादिपौरा-णिकतान्त्रिकभाष्यकाराणां भाष्याण्येव अपाठ्यन्त, यान्यधीत्य शिष्टोऽपि श्रद्धाभावोऽलुप्यत।

(समा०) श्री करपात्र का यह कथन अज्ञान जनित ही है और कुत्सित मनोवृत्ति का भी द्योतक है। यह निर्मलोक्ति इसे धिक्कृत करती है—

"यह काषायवस्त्र धारी साधु-वेश को लज्जित कर रहे हैं गालीदान से जिनके अधर अत्यन्त निन्दित हो चुके हैं। वेदों में शाश्वत एकेश्वरवाद को भी नहीं मानते और निर्लज्ज होकर कहते है कि एकेश्वरवाद ईसाई और यवनों ने प्रचालित किया है"।

वस्तुत: आधुनिक काल में स्वनामधन्य, प्रात: स्मणीय महर्षि दयानन्द ही विद्वानों में शिरोमणि हुये, जिन्होंने वेदों के यथार्थ स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रतिष्ठापित किया। उनके समय में भारतीय संस्कृतज्ञों में वेदों की निनान्त उपेक्षा थी और उनकी वेदाध्ययन में कोई प्रवृति न थी, स्वामी विशुद्धानन्द और वालशास्त्री भी, जो दर्शन और स्मृतियों का अनुशीलन करने वाले थे, वेदों के प्रति उदासीन थे। जहाँ तहाँ सायण, महीधर आदि पौराणिक, तांत्रिक (वाममार्गी) भाष्यकारों के ही भाष्य पढ़ाये जाते थे, जिन्हें पढ़कर हिन्दूजाति का वेदों के प्रति बचा खुचा श्रद्धाभाव भी लुप्त हो गया।

अपरतः पाश्चात्याः वेदाध्ययनपरायणा आसन्, परं तेषां पक्षपातदृक्, श्रुतिश्रद्धाविपर्यये एव च जागरूकता समदृक्ष्यत। एतस्यां करालकाल-कवलितार्यसंस्कृतेरवस्थायाम् महर्षिरेव सिंहनादं व्यधात् "वेदः सर्वसत्यविद्यानाम् पुस्तकमास्ते। वेदस्य पठनं, पाठनं श्रवणं श्रावणं च सर्वेषामार्याणां परमो धर्मोऽस्ति।" इति

त्वादृशएव प्रिंसिपलमहेशचन्द्रो न्यायरत्नम, हॉग, ग्रिफिथादिकृतम् वेदानामेकेश्वरवादखण्डनमाश्रित्य बहुअलिखत्, परं, महर्षिरेव 'भ्रान्तिनिवारणे' तत्प्रतिवादमकरोत्, "डाक्टर हॉगटानी, ग्रिफिथादयो नेश्वराः येषां कथनं येनापरीक्ष्य मन्तव्यं स्यात्, किम् हॉगादयोऽस्माकम् महनीयमहर्षिभ्योऽप्यधिकगरीयांसो यान् प्रमाणीकृत्य वयं प्राचीन-सत्य-ग्रन्थानपि त्यजेम ? यथा च महेशचन्द्रोऽनुनयते।"

महर्षि विहाय कस्मिन्नासीत् साहसस्तस्मिन् काले हॉगाद्याङ्गलानां विरोधं कर्त्तुम्। ब्रह्मचर्यपरिपूतकायवाङ्मानसबलेनैवाऽवलिप्ताः वेदविरोधिन एकेनैव तेन धीरेण जिताः, अतः सत्योक्तिरेषा सङ्गता महर्षि विषये:—

दूसरी ओर पाश्चात्य लोग वेदाध्ययन-परायण हो रहे थे; परन्तु उनकी पक्षपात पूर्ण दृष्टि और श्रुति के प्रति अश्रद्धा में ही जागरूकता दिखाई पड़ रही थी। कराल काल कवलित आर्य-संस्कृति की इस अवस्था में महर्षि ने ही सिंहनाद किया था कि— "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है; वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"।

आपके समान ही प्रिंसिपल महेशचन्द्र ने, होग, ग्रिफिथ आदि के किये हुये, वेदों के एकेश्वरवाद के खण्डन का आश्रय लेकर बहुत सा लिखा था, और उनका प्रतिवाद महर्षि ने "भ्रान्ति-निवारण" में किया है।

यथा" डा० होग, टानी, ग्रिफिथ आदि ईश्वर नहीं थे जिनके कथन को विना कसौटी पर कसे मान लिया जाये, क्या होग आदि हमारे पूजनीय महर्षियों से भी अधिक गौरवशाली थे ? जिनको प्रमाण मानकर हम अपने प्राचीन सत्यग्रंथों को भी छोड़ दें, जैसा कि महेशचन्द्र बहकाते हैं।"

महर्षि को छोड़कर किसमें साहस था जो उस समय (पराधीनता में) होग आदि ईसाई अंग्रेजों का विरोध करता। ब्रह्मचर्य से पवित्र काया, वाणी

"कान्ताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमयं स धीरः॥

अयं खलु जडाराधनार्पितधीः करपात्रः कथयति यत्स्वामी दयानन्दो बायबलकुरानादिभ्यः एकेश्वरवादमगृह्णात् नास्ति वेदेष्वेकेश्वरोपासना विधानमिति। अहो कीदृशी आर्यजातेर्विनाशोन्मुखभाग्यविडम्बना यदेतादृशोऽपि कपटकाषायाम्बरधराः प्रतिष्ठां लभन्ते वेदप्रतिष्ठाविलोपिनः।

स्वामीदयानन्दस्तु एकेश्वरवादं वेदप्रतिपादितं सडिण्डिममघोषयत् यत्।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं

और मनोबल के द्वारा ही एक धीर पुरुष ने अनेक घमण्डी वेद विरोधी जीत लिये। इस प्रसङ्ग में यह सत्योक्ति सङ्गत है कि—

"कान्ता के कटाक्ष के बाण जिसके चित्त को नहीं छेदते और कोपाग्नि का ताप नहीं जलाता एवं लोभ के पाशों से बहु विषय भी जिसे आकृष्ट नहीं कर पाते, यही वह धीर पुरुष तीनों लोकों को जीत रहा है।"

भला देखिये तो जड़ की आराधना में समर्पित बुद्धि वाले करपात्री जी कह रहे हैं बायबल, कुरान आदि से एकेश्वरवाद को ग्रहण किया है वेदों में एकेश्वरोपासना का विधान नहीं है। अहो ! आर्यजाति की यह कैसी विनाशोन्मुख भाग्यविडम्बना है कि ऐसे भी कपटी गेरुआ वस्त्र-धारी वेद की प्रतिष्ठा को लुप्त करने वाले प्रतिष्ठा को प्राप्त कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने तो वेदों के एकेश्वरवाद की सडिण्डिम घोषणा की थी। "इन्द्रं मित्रं ("ऋ० १।१६४।४६) यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का मन्त्र उनके मुंह पर चपेटिका है, जो ऐसा प्रलाप करते हैं कि वेदों में एकेश्वर उपासना नहीं है, तथा बायबल, कुरान आदि से लेकर स्वामी दयानन्द ने प्रचलित की है। महोदय ! आर्यों ने ही संसार में सबसे पहले ईश्वर को जाना तथा विश्व को इसकी शिक्षा दी थी।

डा० ताराचन्द्र, प्राध्यापक हुमायूं कबीर, आचार्य विनोबा भावे, करपात्र

सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ. १।१६४।४६)
ये प्रलपन्ति मूढ़धियो यद् दयानन्दः प्रभावितो वायवलकुरानादिभिस्तेषां मुखे एष मन्त्रश्चपेटिका। आर्यास्तु संसारे सर्वप्रथममेवाजानन्नेकेश्वरवादं प्राशिक्षयंश्चैकेश्वरार्चनम् सर्वान् भूतलस्थान्नरान्।

डाक्तर ताराचन्द्रः, प्राध्यापकहुमायूं कवीरोविनोवाभावेकरपात्रादयश्च यदाहुस्तत्तु तन्मतानुयायिमनोरञ्जनाय। महदाश्चर्यं त्विदं यद् 'धर्मसम्राट्'पदवीं बिभ्राणः करपात्रो गीर्वाणवाणीविलासरसिकोऽपि सन् एकेश्वरवादमन्यैः शिक्षितं मेने।

धिगिममार्य-द्वेषिणम्, इयं निर्मलोक्तिश्च मननीयाऽनेनेह—

"नो संसारजना जनुश्च जगृहुर्नोन्मीलनं चक्षुषोः,
अस्माकं मुनयस्त्रिविष्टपधरोत्सङ्गे तु सर्गे नवे।
वेदज्ञानमवाप्य सर्वसुखदामेकेश्वरोपासनाम्,
चक्रुर्वै तदनन्तरं जगदिदं लेभेऽखिलं शिक्षणम्॥

यावद् हि दाराशिकोहोऽपि यवनो धन्यवादार्हो यदसौ उपनिषदामेकेश्वरवादमादिमं मौलिकं च मन्वानो भूरिशः प्राशंसत। मौलाना-सुलेमाननदवी तु स्व-ग्रन्थे विलिखति यदेकस्मिन् दिवसे मोहमद-महोदयः प्राचीं प्रत्यभिमुखः सन् ध्यान-मग्नोऽभवत्, सहयोगिनः

आदि ने जो कहा है वह तो इन अन्धममतानुयायी लोगों के मनोरञ्जन के लिये है। यह महदाश्चर्य है कि धर्मसम्राट् पदवी को धारण करते हुये भी, गीर्वाणवाणी विलासरसिक होते हुये भी करपात्री जी कह रहे हैं "एकेश्वरवाद हमें दूसरों ने सिखाया।"

ऐसे पारिजात-कर्ता को धिक्कार है। इन्हें यह निर्मलोक्ति मनन करनी चाहिये कि संसार के लोगों ने जन्म-धारण भी न किया था, न नेत्र (ज्ञान) द्वार खोले थे, उससे पूर्व हमारे पूर्वज मुनियों ने तिब्बत की धरा की गोद में नई सृष्टि में वेद-ज्ञान प्राप्तकर सर्व-सुखदा एकेश्वर-उपासना की थी, फिर संसार ने इन्हीं से सम्पूर्ण-शिक्षा ग्रहण की।"

दाराशिकोह यवन होता हुआ भी धन्यवाद का पात्र है, जो कि उसने उपनिषदों के एकेश्वरवाद को मौलिक मानते हुये भूरि प्रशंसा की है। मौलाना सुलेमान नदवी ने तो अपने ग्रन्थ में लिखा है कि एक दिन मुहम्मद साहब

पपृच्छुस्तं "श्रीमन् प्राङ्अभिमुखीभूय प्रार्थयते किं ? सः प्रत्युदतरत् "पूर्वतो भारतादेकेश्वरवादस्य शीतला वाता वान्तः समायान्ति इति।" इयमस्ति विचारधारा यवनानामपि परं हिन्दुकुलकलङ्कायमानानां जनानामितोऽन्या सम्मतिः वेदैकभक्तिपरायणानामार्याणां मनांसि व्यथयतेऽतितराम्।

स्वामिनः सूर्यायार्घ्यदानस्य भवत्कथनं निराधारं यतो हि—

न खलु महर्षिदयानन्दः ईश्वरस्थाने उपास्यत्वेन सूर्यायार्घ्यदानविधानं चक्रे, न वा नमस्क्रियाविधानमुपास्यत्वेन प्रत्यपादयत्, इदं ते वचो निर्मूलम्। उपास्यस्तु केवलमीश्वर एव शास्त्रप्रतिपादितो। यथा च बहुभिः प्रमाणैरुपरि दर्शितम्।

'नमस्ते अस्तु विद्युते-(वाज॰ सं॰ ३६।२१) इति मन्त्रे च भगवते परमेश्वरायैव नमस्कारो विहितः।

देवतास्वरूपनिरूपणस्थले तत्रानेन बहुपल्लवितं ग्रन्थकायपरिवर्धनाय, परं न तत्र महर्षिमतखण्डनमतोनाधिकमुच्यते विस्तरभियाऽत्र।

पूर्व दिशा की ओर मुंह करके ध्यान भक्त हो गये। सहयोगियों ने उनसे पूछा कि श्रीमन्! आप पूर्व को मुंह किये हुये क्या प्रार्थना कर रहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया, 'पूर्व (भारत) से एकेश्वरवाद की शीतल वायु बहती हुई आ रही है" यह है विचार-धारा यवनों तक की; परन्तु हिन्दू कुल कलङ्कायमान जनों की इससे भिन्न सम्मति है जो वेद में निष्ठा रखने वाले आर्यों के मानस को अतितरां पीडाकर है।

सूर्य को अर्घ्य देने की आपकी बात निराधार है, क्योंकि ऋषि दयानन्द ने उपास्यत्वेन सूर्य को अर्घ्य देने की बात कहीं नहीं कही है और न इसे नमस्कार का विधान किया है। उपासनीय तो केवल ईश्वर ही शास्त्रानुमोदित है, जैसा कि बहुत से प्रमाणों से दिखाया गया है।

'नमस्ते अस्तु विद्युते (वाज. ३६।२१) इस मन्त्र में तो विद्युद्वद्व्यापक, और तद्गर्जनवद् दुष्टजनों को भय-जनक भगवान् परमेश्वर के ही लिये नमस्कार किया गया है।

देवतास्वरूप को बताने के स्थल पर इस लेखक ने ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के

(पृ६२२ अनु० १) पू० प० :-"आर्या यद्यप्यनादिकालात् ब्रह्म परमेकमेवाद्वितीयं मन्यन्ते, तथाऽप्यधिकारिभेदात् ईश्वराङ्गप्रत्यङ्गभूतानामन्यासामपि देवतानामुपासनमुररीकुर्वन्त्येव । घटशरावादयो भिन्ना अपि मृदात्मना अभिन्नाः एव, तथैव इन्द्रादयोऽपि प्रकृतिभूतपरमात्मनोऽभिन्ना एव ।'

(समा०)—इह तु अयं लेखकः सूर्यादीनां पदार्थानां प्रकृत्युत्पन्नानाम् परमात्मरूपमुपादानत्वेन प्रतिपादयन् केवलां ब्रह्मसत्तां मन्यते तदेतन्नवीनवेदान्तमतं तु प्राग्बह्वालोचितं खण्डितं च । घटशरावादयस्तु उपादान-प्रकृत्युत्पन्नाः मृदात्मनो अभिन्नाः मृद्विकारत्वात्' परं न तथा अपरिणामिन एकरसात्मकाद् ब्रह्मणः समुद्भूता इन्द्रादयो विकारा, न तद् (ब्रह्म) अभिन्नाः । न चेश्वरस्य अङ्ग प्रत्यङ्गानि वेन्द्रादयो, न वाऽर्थः (पर्यायवाचिनः) परमात्मनः । अत, ईश्वर स्थाने इन्द्रादीनाम् उपासनं व्यनधुरार्याः उपासानायाम् मनुष्याणाम् अधिकारिभेदकथनेन नैकस्य ब्रह्मणः उच्चावचानिःश्रेणयो भवितुमर्हन्ति । यथा च ऋग्वेदे (मं० ८।१।१) एकस्यैवोपास्यता प्रत्यपादिः-

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

अत्र स्पष्टरूपेण 'मा चिदन्यद् विशंसत' इत्यनेनान्यपूजा-निषेध एव कृतः ।

वस्तुतस्तु 'अतोन्यदार्तम्' (बृहदा० ३।५।१) इत्यादीनि स्थलान्यपि न वेत्ति भवान् । अथ चेत् नान्यद् ब्रह्मणः किमपि, कः कं प्रतिबोधयेत् ? न ब्रह्म ब्रह्मैव वेदयते । अतस्सारोऽयम् यत् हे, जीवात्मन् न त्वं ब्रह्मातिरिच्य किमपि उपास्यमन्यन्मन्येथाः, ब्रह्मण एव परमसत्यरूपत्वात् । अस्मिन्नेवार्थे (मोक्षबाधकत्वं) मिथ्यात्वं जगतः सिद्धम्, न त्वभावत्वम् ।

किञ्चात्र भवता 'वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैव उपासनानुष्ठानाचारागमात्, इत्यस्य स्थाने 'वेदोक्तरीत्यैव ईश्वरस्योपासनावगमादिति पाठविपर्यासः कृतोऽन्यार्थनिष्पोडनधिया ।

लिये बहुत सा लिख दिया है, परन्तु उसमें महर्षि के सिद्धान्त का प्रायः खण्डन नहीं हो सका. अतः विस्तार भय से हम भी अधिक नहीं लिख रहे हैं ।

(पृ.६२२ अनु १) पू. प.–आर्य लोग यद्यपि अनादि काल से एक ही अद्वितीय परमेश्वर को मानते हैं, तो भी अधिकारी भेद से ईश्वर के अङ्ग प्रत्यङ्गभूत अन्य देवताओं की उपासना भी करते ही हैं । घट, शरावा आदि भिन्न होते हुये भी मिट्टी से अभिन्न ही हैं । उसी प्रकार इन्द्र आदि भी प्रकृतिभूत परमात्मा से अभिन्न हैं ।

सभा०—यहाँ पर यह लेखक सूर्यादि पदार्थों को जो जड़ प्रकृति से उत्पन्न हैं, उनका परमात्मा को उपादान कारण मानते हुये केवल ब्रह्म सत्ता को मानता है प्रकृति की सत्ता को नहीं । इनके इस नवीन वेदान्तमत की पहले बहुत आलोचना और खण्डन किया जा चुका है । घट, शरावा आदि तो प्रकृति (मिट्टी) से उत्पन्न मिट्टी रूप में अभिन्न हैं, क्योंकि ये मिट्टी के विकार हैं । उसी प्रकार अपरिणामी निमित्त कारण एकरूपात्मक ब्रह्म से उत्पन्न इन्द्रादि उसके विकार नहीं है अतः तद् अभिन्न भी नहीं; वहाँ पर इन्द्र आदि ब्रह्म के पर्यायवाची भी नहीं हैं । विद्युदादि के वाचक है, वहाँ वे प्रकृति के विकार हैं अतः ईश्वर के मुख्यतया अस्मदादिवत् अङ्ग और प्रत्यङ्ग भी नहीं, और न ये अर्थ ही हैं ।

ईश्वर के स्थान पर शास्त्र में कहीं भी इन्द्रादि की उपासना का विधान नहीं है । उपासना में मनुष्यों के अधिकारी भेद कहने से एक ब्रह्म में अनेक प्रकार की निःश्रेणियाँ भी नहीं हो सकती । जैसाकि (ऋ०म० ८।१।१) में उपासना बताई है :–हे उपासको ! परमात्मा के अतिरिक्त अन्य की उपासना न करो, आत्म-हिंसक न बनो, सब कामनाओं के पूर्णकर्ता परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा की ही स्तुति करो । सब एकत्र होकर साक्षात्कार करने पर बार-२ परमात्मा के गुण कीर्तन करने वाले 'स्तोत्रों का गान करो" । यहाँ पर अव्यक्त रूप अन्य जडादि पूजा का निषेध है ।

वास्तव में इस ब्राह्म रूप अवस्थान से अन्यत् आर्त अर्थात् विनाशी है । (बृहद् ३।५।१) इत्यादि स्थलों को भी आपने नहीं समझा यदि नवीन वेदान्तियों की दृष्टि से ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो कौन किसका प्रतिबोधन करे । ब्रह्म ब्रह्म को ही समझे यह अर्थ घटित नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वदा स्वज्ञ है । निष्कर्ष यह है कि हे जीव ! तुम ब्रह्म से अन्य (यदि ब्रह्म से किसी की सत्ता नहीं सब तद्रूप ही है फिर अन्य शब्द से क्या प्रतिबोध्य होगा ?) किसी को उपास्य न मानो क्योंकि ब्रह्म ही परम सत्य है । इससे ही जगत् का

(पृ० ६२२ अनु २)—'यदुक्तं "वेदाधिकारिभिः परमात्मा निर्गुणः सगुणश्चोपास्यते स्म" तदिदं तु सत्यम्, परमयम् निर्गुणसगुणयोः परिभाषामन्यामेव निराकारसाकारात्मिकां मन्यतेऽवैदिकीम् न तु ऋषिदयानन्दकृताम् ।

यदुच्यते "मैक्समूलरादिरीत्या पूर्वं सर्वे मानवाः असभ्या, आरण्यकाः ज्ञानशून्याश्चासन्, क्रमेण तेषु ज्ञानं विकसति स्म ।' एष एव सिद्धान्तस्तैः वेदेष्वारोपितः ।"

एतत् प्रसङ्गे तु वयम् स्पष्टं कुर्मो यदयम् लेखकः 'मनुष्याणाम् उपदेशमन्तरा पशुवत् प्रवृत्तिर्भवति, अतो वेदोपदेशं व्यधादादावीश्वरः' इति स्वामिनो लेखखण्डनाय "विकासवादिनस्तु विकासक्रमेणैव ज्ञानविकासोऽपि भवति, पशवः, पक्षिणश्च विवधं व्यवहरन्ति, सर्वोऽपि च व्यवहारो ज्ञानपूर्वक एव भवति" इतिमतं स्वामिमतं कृत्वा प्रस्तौति, तदा तु मैक्समूलरादिरीतिमारमीयामिव वेदेष्वयं स्वयमेवारोपयति ।

मिथ्यात्व (मोक्ष का बाधकत्व) सिद्ध है, न कि जगत् का अभाव । यहाँ पर अन्यार्थ निकालने की दृष्टि से उल्टा पाठ कर दिया गया है ।

(६२२ अनु० २) "वेदाधिकारियों के द्वारा परमात्मा की निर्गुण और सगुण रूप में उपासना की जाती थी ।" यह कथन सत्य है, पर यह लेखक निर्गुण और सगुण की परिभाषा ही अन्य मान रहा है, जिससे सगुण का अर्थ साकार लगा रहा है, जो वेद विरुद्ध है । ऋषि दयानन्द कृत जो वेदानुकूल है उस परिभाषा को नहीं मानता । यह कहना कि मैक्समूलर आदि रीति से पहले सब असभ्य जंगली, ज्ञानशून्य थे, क्रमशः उनमें ज्ञान का विकास हुआ, यही सिद्धान्त स्वामी दयानन्द ने वेदों में आरोपित किया है ।"

इस प्रसङ्ग में तो हम स्पष्ट कर दें, कि यह लेखक ने "उपदेश के बिना मनुष्यों की पशुवत् प्रवृद्धि होती है, अतः ईश्वर ने सृष्टि के आदि में वेदोपदेश दिया" स्वा० दयानन्द के इस लेख के खण्डन के लिये "विकासवादी क्रम से ही ज्ञान का विकास भी हुआ, पशु और पक्षी विविध व्यवहार करते हैं। सारा व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है" । इस मत को अपना निजमत करके प्रस्तुत किया है तब तो वास्तव में मैक्समूलर आदि की रीति को यही लेखक वेदों में आरोपित कर रहा है न कि ऋषि दयानन्द ।

(पृ० ६२६) पू०प० "यद्यपि साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृ. ३।४।१) इति श्रुत्या परं ब्रह्मापरोक्षमेव, तथाऽप्यनाद्यविद्यामायादियोगेनापरोक्षमपि ब्रह्म परोक्षवदवभासते ।"

(उ० प०) अत्रैतद् विचारणीयम् यदेकमेव ब्रह्म नातोऽतिरिक्तं वस्तु, ततो परोक्षंप्रत्यक्षं वा ब्रह्म कस्य दृष्ट्या ? अथ च परोक्षवदित्यत्र 'वत्' इति किं तुल्यार्थे ? ओमिति चेत् अपरवस्तुसत्ताऽभावे तुलना-प्रश्नः एव कुतः सम्भवति ? यद्यनाद्यविद्यामायादियोगेन, तदा इयमविद्या द्रव्यं गुणो वा ? यदि द्रव्यं तदा ब्रह्मातिरिक्त-वस्तुसत्तायाम् द्वैतापत्तौ अद्वैत-सिद्धान्तहानिः, अथ चेद् गुणस्तर्हि कस्मिन् द्रव्ये तिष्ठति ? अतोऽत्र भवत्सिद्धान्ते उभयतोदोषापत्तिः । किञ्च नेयमविद्याउत्पद्यते शङ्कराचार्यादिमतेऽनादित्वमस्याः स्वीक्रियते, जन्यत्वेतु तस्याःनानादित्वमुपपद्यते, केषांचिन्मते प्रवाहानादित्वम् अविद्यायाः ।

महात्मशङ्करमते अविद्यायाः जन्यत्वाभावे कावस्थिति र्भविताभवतः ? वस्तुतस्तु आचार्यशङ्करस्याभिप्रायोऽविद्याया अधिकरणेन अस्ति. अर्थात् ब्रह्मजीवप्रकृतयस्त्वनादयः, तत्र ब्रह्म सर्वज्ञं जीवश्चा-

---

(६२६) पू० प० —"यद्यपि ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है' (बृ. ३।४।१) इस श्रुति से ब्रह्म अपरोक्ष है, तथापि अनादि, अविद्या माया आदि के योग से अपरोक्ष भी ब्रह्म परोक्ष के समान अवभासित होता है ।

उ० प०--यहाँ पर यह विचारना चाहिये कि ब्रह्म एक है, इससे अतिरिक्त वस्तु अन्य कोई नहीं और यह ब्रह्म की परोक्षता किसकी दृष्टि से है ? तथा परोक्षवत् यहाँ "वत्" प्रत्यय क्या तुल्यार्थ में है ? अन्य वस्तु की सत्ता के अभाव में तुलना का प्रश्न ही संभव नहीं है । यदि अनादि अविद्या, माया आदि के संयोग से है तो बताइये यह अविद्या द्रव्य है अथवा गुण ? यदि द्रव्य है तो ब्रह्मातिरिक्त वस्तु की सत्ता होने पर द्वैतापत्ति में आपकी सिद्धान्त हानि होगी ।

यदि गुण है तो यह बताइये कि यह गुण किस द्रव्य में रहता है ? पर यह अविद्या तो उत्पन्न होती नहीं । शङ्कराचार्यादि के मत में अविद्या की अनादिता प्रवाह से है ?

महात्मा शंकर के मत में जन्यत्व के अभाव में आपकी क्या स्थिति होगी ? वास्तव में आचार्य शङ्कर का अभिप्राय अविद्या के अधिकरण से है अर्थात्

ल्पज्ञः, प्रकृतिरज्ञा, यदा जीवो ब्रह्मणः समीपमायाति तदाऽयमल्पज्ञ-स्तत्त्वज्ञो जायते, यदा चायम् प्रकृतिम् भजते, तदाऽस्य मिथ्याज्ञान-मुत्पद्यते अणुभूतस्यार्थात् सूक्ष्मभूतस्य। स एष नवीनवेदान्त-विषयः सत्यार्थप्रकाशेऽपि पर्यालोचितः। यदुक्तं 'परोक्षवदवभासते' तदा (सिद्धान्ती) ब्रह्मणि जगत्.प्रत्ययः कस्य जातः? (नवीन वेदान्ती) जीवस्य। (सि॰) जीवः कुतो जातः? (न॰ वे॰) अज्ञानतः।

(सि॰) अज्ञानं कस्माज्जातं कुत्र च तिष्ठति?

(न॰ वे॰) अज्ञानमनादि, ब्रह्मणि च तिष्ठति।

(सि॰) ब्रह्मणि ब्रह्मणोऽज्ञानमुत कस्याप्यन्यस्य? तदज्ञानं च कस्य?

(न॰ वे॰) चिदाभासस्य। (सि॰) चिदाभासस्य किं रूपम्?

(न॰ वे॰) ब्रह्म। ब्रह्मणोब्रह्माऽज्ञानमर्थात् ब्रह्म स्वं स्वरूपं स्वयमेव विस्मरति। (सि॰) तस्य विस्मरणे किन्निमित्तम्?

(न॰ वे॰) अविद्या। (सि॰) अविद्या सर्वव्यापिनः सर्वेश्वरस्य

ब्रह्म जीव और प्रकृति ये ३ अनादि है उनमें ब्रह्म सर्वज्ञ जीव अल्पज्ञ और प्रकृति अज्ञ है। जब जीव ब्रह्म के समीप आता है, तब वह अल्पज्ञ तत्त्वज्ञ हो जाता है। जब यह प्रकृति को भजता है तब अणु अर्थात् सूक्ष्मभूत इसको मिथ्याज्ञान हो जाता है। यह नवीन वेदान्त का विषय महर्षि ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में पर्यालोचित किया है। आपका यह कथन है कि ब्रह्म परोक्षवत् अवभासित होता है। तब सिद्धान्ती कहता है कि ब्रह्म में जगत् का प्रत्यय किसे हुआ? नवीन वेदान्ती—जीव को। सि॰—जीव कहाँ से हुआ?

नवीन वे॰—अज्ञान से।

सि॰—अज्ञान किससे हुआ? और किसमें रहता है?

न॰ वे॰—अज्ञान अनादि है और ब्रह्म में रहता है।

सि॰—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान है अथवा अन्य किसी का?

न॰ वे॰—चिदाभास का। सि॰—चिदाभास का क्या रूप है?

न॰ वे॰—ब्रह्म, ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूप को स्वयं ही भूल जाता है। सि॰—उसके विस्मरण में क्या निमित्त है?

न॰वे॰—अविद्या। सि॰—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है अथवा

गुणोऽल्पज्ञस्य वा? (न॰ वे॰) अल्पज्ञस्य। (सि॰) तद् युष्मन्मते एकमनन्तं सर्वज्ञं चेतनं विनाऽन्यः कश्चन चेतनो विद्यते न वा? अल्पज्ञश्च कुतः आगतः? आम्, अल्पज्ञश्चेतनश्चेद् ब्रह्मणः च पृथङ् मन्यते तदा समीचीनम्। यदैकभागे ब्रह्मणो निजस्वरूपस्याज्ञानं भवेत् तदा सर्वत्र तदज्ञानं प्रसरेत्। यथा शरीरैकभागे जायमाना स्फोटपीडा सकलशरीरावयवान् निरुपयोगान् करोति तथैवैकदेशे ऽज्ञानक्लेशयुतं ब्रह्माऽपि यदि भवेत्तदा सकलं ब्रह्माऽपि अज्ञानक्लेशानु-भवयुक्तं सम्पद्येत इति (११ श समुल्लासे)। अतस्तव नवीनवेदा-न्तिन एष पक्षोऽज्ञानविजृम्भित एव।

अल्पज्ञ का? (न॰ वे॰)—अल्पज्ञ का। (सि॰)—तो आपके मत में एक अनन्त, सर्वज्ञ चेतन के विना अन्य कोई चेतन है अथवा नहीं? और अल्पज्ञ कहाँ से आया? अच्छा, अल्पज्ञ चेतन होवे और ब्रह्म से पृथक् माना जावे तब समी-चीन है, जब एक भाग में ब्रह्म निज स्वरूप का अज्ञान होवे तो सर्वत्र ही वह अज्ञान फैल जावे।। जैसे शरीर के एक भाग में जायमान फोड़े की पीड़ा सारे शरीर के अवयवों को निरुपयोग बना देती है वैसे ही एक देश में अज्ञान क्लेश युक्त ब्रह्म भी होवे तो वह सारा ही ब्रह्म अज्ञान क्लेशानुभव युक्त हो जायेगा।,, (११ समुल्लास)

—:०:—

देवता-स्वरूप-निरूपणम्

एतच्चशीर्षके ६२६ पृ० ९ पङ्क्तिमारभ्य (६७५ पृ०) यावत् करपात्रेण 'शब्दादेव प्रमितः' इति वेदान्तसूत्रप्रभृत्या वेदान्तसूत्राणां जैमिनिसूत्राणां च अन्वक्षरं भाष्यमुद्धृतं, तदप्रासङ्गिकमेव, महर्षि कथनस्यानुपात्तत्वात्। तद्विषये अन्वक्षरमसमालोच्य साररूपेणैव देवता-विषयकप्रकरणमुपन्यस्यते।

ऋषिदयानन्देन देवताविषये "तत्राऽपि मतद्वयं" विग्रहवदविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं प्रतिपादितम्। अन्यच्च 'मातृदेवो भव इत्याद्युद्धृत्य मातृपित्राचार्यातिथिपरमेश्वराः तैत्तिरीयोपनिषदनुसारमुक्ताः देवताः। अग्रे परमेश्वर एवोपास्यः इत्यत्र प्रमाणानि उद्धृतानि।

तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। माता-

देवता स्वरूप निरूपण

इस शीर्षक पर ६२६ पृ० की ९ पंक्ति से आरम्भ कर ६७५ तक करपात्री जी ने 'शब्दादेव प्रमितः' इस वेदान्त सूत्र से लेकर वेदान्त तथा जैमिनि के सूत्रों का भाष्य अक्षरशः उतार दिया है, वह सब अप्रासङ्गिक है, क्योंकि यहाँ महर्षि दयानन्द के कथन का कोई उद्धरण नहीं दिया है जिसके प्रसङ्ग में यह मान लिया जावे। उस विषय में प्रत्येक अक्षर की समालोचना न करके साररूप से ही देवता विषयक प्रकरण का उपन्यास किया जायेगा।

ऋषि दयानन्द ने देवता के विषय में 'उसमें भी दो मत है विग्रहवत् तथा अविग्रहवत् देवता भेद से। इन दोनों का प्रतिपादन किया है। तथा मातृदेव, पितृदेव आदि उद्धरण देकर माता-पिता आचार्य, अतिथि यह मूर्तिमान और परमेश्वर अमूर्तिमान् देव तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार कहे हैं। आगे मोक्ष प्राप्ति के लिये परमेश्वर ही उपासनीय है इसमें प्रमाण उद्धृत किये हैं।

पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता पिता, आचार्य, अति-

पित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थ-प्रकाशकत्वं च, मनः षष्ठज्ञानेन्द्रियाणामुपयोगो व्यवहाराय परमार्थाय च। परं परमेश्वरस्य देवत्वमिष्टोपयोगित्वेनाऽस्ति।

देवताऽधिकरणविषये विचारणीयमेतद्यत् सूर्यादयो देवताश्चेतना अचेतना वा ? ते चेतनजीव-विशेषा ईश्वर-रूपा वा ?

(पू० प०) यदाधारा वैदिकदेवता ईश्वर-भिन्ना जीवविशेषाः समनुमन्यन्ते 'इमे' यथा—

विग्रहो हविषा भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

१. विग्रहो यथा-'जगृम्भाते दक्षिणमिन्द्रहस्तम्, इत्यादिप्रमाणम्।
२. हविर्भोगे यथा 'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'
३. ऐश्वर्यं यथा—'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या……"
४. प्रसन्नता फलप्रदानं च यथा :-'आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति, तस्मै प्रीता इषमूर्जं च यच्छन्ति"।

थियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र देवपन है। मन और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ के लिये होता है, परन्तु परमेश्वर का देवपन इष्ट (मोक्ष) उपयोगित्वेन है।

देवता अधिकरण विषय में विचारणीय यह है, कि इतर सूर्यादि देवता चेतन हैं वा नहीं ? वे चेतन जीव विशेष हैं अथवा ईश्वर रूप हैं।

पू०प० – जिन आधारों पर वैदिक देवता ईश्वर से भिन्न जीवविशेष माने जाते हैं, वे —

विग्रह, हविर्भोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फल-प्रदान ये पाञ्च हैं।

१. विग्रह जैसे 'हे इन्द्र ! तुम्हारे हाथ को ग्रहण किया' इत्यादि प्रमाण।
२. हविर्भोग जैसे—'हे इन्द्र ! खाओ और पियो।
३. ऐश्वर्य जैसे—इन्द्र द्युलोक और पृथिवी का स्वामी हैं।

४-५—प्रसन्नता और फल-प्रदान जैसे हुत से अवशिष्ट खाने वाला-देवताओं को प्रसन्न करता है वे अन्न और बल को देते है।

इमे च चेतनधर्माण एव । इतिहास पुराणेष्वपि देवतानां विग्रहादिपञ्चकं बहु प्रपञ्चितम्, लोकव्यवहारेण च पञ्चकं सिद्धम् ।

एभिर्हेतुभिर्देवताश्चेतना शरीर-धारिण प्रतीयन्ते, परमेश्वरश्च न शरीरी, तस्माद्देवता इमे परमात्मनो भिन्नाः । तत्पुष्टौ एव एकमन्त्रे एवानेक-देवताः स्तूयन्ते (१) यथा 'शन्नो मित्रः शं वरुणः", अन्यथा एकस्यैव परमेश्वरस्य नाम-भेदे 'शन्नो मित्र" इत्येव पठनं पर्याप्तमभविष्यत् । (२) अथ च परमात्मना सह अन्यदेवतावर्णनमपि भिन्नत्वं साधयति, यथा—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि (३) परमात्मभिन्नत्वे प्रबलं प्रमाणम्, यथा—"तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्याः विद्युः" (बृह० १।४।१०) यत् परमात्मानमजानन्त एव मानवा देवतां पूजयन्ति अत एतदभीष्टं देवानां यज्ञे न परमात्मानं बुध्येरन्" एतानि वचांसि अस्मिन् पूर्वपक्षे प्रदर्शितानि ।

उत्तरपक्षश्चेत्थम्—यदुपनिषदां वेदमन्त्राणां च गम्भीराध्ययनेन स्फुटं निश्चीयते यद् विभिन्नदेवताव्याजेन एक एवेश्वरो वर्ण्यते, वेदे अग्निवाय्वादि-द्वारा तस्यैव विविधो महिमा दर्शितः । न सूर्यो" देवः

ये चेतन के ही धर्म हैं । इतिहास पुराणों में भी देवताओं के विग्रह आदि पञ्चक का विस्तार से वर्णन किया गया है । लोक-व्यवहार में भी यह सिद्ध है ।

इन हेतुओं से देवता चेतन व शरीरधारी प्रतीत होते हैं । परमेश्वर शरीरी नहीं है, अतः परमात्मा से भिन्न है । उसकी पुष्टि में ही एक ही मन्त्र में अनेक देवताओं का स्तवन है । यथा १. शन्नो मित्रः शंवरुणः आदि अन्यथा एक ही परमेश्वर का नाम भेद होने पर 'शन्नो मित्रः यही पढ़ना पर्याप्त होगा । (२) परमात्मा के साथ अन्य देवता वर्णन भी भिन्नत्व का साधक हैं । (३) परमात्मा के भिन्न होने में बहुत से प्रमाण हैं जैसे (बृहदारण्यक १।४।१०) कि इन देवताओं को यह प्रिय नहीं है ।

(उत्तरपक्ष)—महोदय ! उपनिषद् और वेदमन्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिन्तन से स्पष्ट निश्चित हो जाता है कि विभिन्न देवता व्याज (बहाने) से एक ही ईश्वर का वर्णन उपासना काण्ड में किया जाता है, वेद में अग्नि, वायु, आदित्य द्वारा भी उसी परमेश्वर की विविध महिमा का वर्णन किया

कश्चिच्चेतनो जीवविशेषो यथा च जैमिनि सूर्यम् ज्योतिर्मयमण्डलं मनुते, न तु जीवविशेषम् । वयमपि पश्यामो नाग्निवाय्वादीनामङ्गानि, शास्त्रे तद्वर्णनं चालङ्कारिकम्, यथाहि मनुस्मृतौ:—

'यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ।। (म० ७।२५)

अचेतनानामपि अङ्गवर्णनं वेदेऽपि "अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः, इति पाषाणस्तुतौ । अशरीरस्याऽपि परमात्मनोऽङ्गवर्णनम् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्" अतोऽङ्गादिवर्णनेन नेन्द्रादयः शरीरधारिणो मन्तुं शक्यन्ते ।

एवमस्मत्पुरः पक्षत्रितयम् । प्रथमः, इन्द्रादयोऽचेतनाः । द्वितीयः शरीरिणो जीवविशेषास्तृतीयश्चैकस्य परमात्मनो भिन्नभिन्नरूपेषु वर्णनम् । वेदमन्त्रैश्च तृतीयपक्ष-पुष्टिः स्पष्टं घोष्यते । अतो निःसन्देहमयमेव पक्षो गरिष्ठो वरिष्ठश्च । तद् यथा (क) यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या । (ऋक् १०।८२।३)

गया है । सूर्यदेव कोई चेतन जीव विशेष नहीं है, जैमिनि महर्षि भी सूर्य को ज्योतिर्मण्डल मानते हैं न कि जीवविशेष । हम भी देखते हैं कि वायु आदि के मनुष्यवत् अङ्ग नहीं, शास्त्र में वर्णन आलङ्कारिक हैं । जैसाकि मनुस्मृति में 'जहां पर श्याम, लोहिताक्ष, पाप हरने वाला दण्ड विचरण करता है, नेता ठीक से देखभाल रक्खे तो प्रजा मोहित नहीं होती ।" अचेतनों का भी अङ्ग-वर्णन वेदों में भी पाया जाता है । यथा—'पाषाण स्तुति में' अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः, अशरीरी परमात्मा का अङ्गवर्णन "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात्, सब ओर चक्षु और सब ओर पैरों का वर्णन है ।

इस प्रकार हमारे समक्ष तीन पक्ष विचारणीय हो सकते हैं । प्रथम इन्द्रादि अचेतन हैं, द्वितीय, शरीरधारी जीव विशेष है तृतीय, एक ही परमात्मा के (उपासना में) भिन्न-भिन्न वर्णन हैं । वेदमन्त्रों के द्वारा तृतीय पक्ष की पुष्टि स्पष्ट घोषित है, अतः निःसन्देह यही पक्ष गरिष्ठ और वरिष्ठ है । जैसे (क) जो सूर्यादि प्रकाशमान लोकों में इन्द्र, वरुण, अग्नि नाम धारण करने वाला एक ही है उस प्रष्टव्य को सब भुवन प्राप्त होते हैं ।

(ख) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।(ऋ.१।१६४।४६)

(ग) स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः""। (अथर्वः—१०।७।२९)

(घ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताः आपः स प्रजापतिः । (यजु०३२।१)

अत इन्द्रादिभिर्नामभिरेकस्यैव परमात्मनो ग्रहणम् ।

एतज्जगतः स्थितिः प्रवृत्तिश्च परमात्मनोऽधीने, तस्मात् पृथग्भूय नाग्निस्तृणमपि ज्वलयितुं, न वायुरुत्पातयितुं शक्नोति 'स उ श्रोत्रस्य श्रोत्रं, चक्षुषोश्चक्षुः मनसो मनः स उ प्राणस्य प्राणः" यत्तेजसा सूर्यस्तपति' इन्द्रमरुन्मेघविद्युदादयः तन्महिम्नैव कार्यं कुर्वन्ति ।

"स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रोभूत्वा तपति मध्यतो दिवम्"
(अथर्व १३।३।१३)

"तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं यजत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेव उ ह्येव सर्वे देवाः । (बृहदा०)

(ख) इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नामों से विप्र उसी एक परमात्मा का कथन करते हैं ।

(ग) उस धारण करने वाले परमेश्वर में लोक, तप, सत्य, शास्त्र आदि समाहित है। (अथर्व० १०।७।२९)

(घ) वही ईश्वर अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा आदि नाम वाला है। (यजु० ३२ १।)

इस जगत् की स्थिति और प्रवृत्ति परमात्मा के अधीन है, उससे पृथक् होकर अग्नि तृण भी नहीं जला सकती, न वायु उड़ा सकती है, वही परमात्मा श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु का चक्षु मन का मन और प्राणों का भी प्राण है, जिसके तेज से सूर्य तपता है, इन्द्र, मरुत् मेघ, विद्युत आदि उसी की महिमा से काम करते हैं। (अथर्ववेद १३।३।१३) में कहा है कि वह परमात्मा सायंकाल में अग्नि, प्रातः स्नेहवान् सूर्य बनता है, प्रेरयिता सूर्य के समान अन्तरिक्ष से चलता है,

'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते, एतमग्नावध्वर्यव, एतं महाव्रते छन्दोगाः । (ऐत० आ० ३।२।३।१२) ।

तदेवम् एभिः प्रमाणैः स एक एव परमात्मा अनेकदेवतारूपे वर्ण्यते, एतद् वर्णनं परमात्मनो विभिन्नशवलरूपाणाम् ।

ननु 'हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम् ? इत्यनेन प्रतीयमाने बलज्ञाने च चेतने एव सम्भवतः, प्रसन्नताफलप्रदानञ्चापि मुख्ययावृत्त्या चेतनस्यैव धर्मौ, अतो न देवा जडाः, अन्यथा जडत्वे एवंविधोक्तीनामसङ्गतताऽपत्तिरिति वाच्यम्, इति चेन्न, अग्न्यादीनां परमात्मनो भिन्नत्वे जीवविशेषत्वमान्यतायाः अशास्त्रीयत्वादयुक्तत्वाच्च । एकस्यैव तत्त्वस्य व्यष्टिसमष्टिरूपेण पृथक् पृथगधिष्ठातृत्वाऽसम्भवात् । न चैक यज्ञियाग्नेरन्योऽधिष्ठाता अपरयज्ञियाग्नेरपराग्नीनां चेतरोऽधिष्ठाता सम्भवति यतोहि अग्नि-सामान्यस्य एकस्याधिष्ठातृत्वेऽग्निविशेषस्यान्याधिष्ठातृमान्यताया निरर्थकत्वात् ।

यथा "वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्येत्वे विश्वे अमृता मादयन्ते ।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनां उपमिद्ययन्थ ॥
(ऋ० १।५९।१)

परमेश्वर्यवान् होकर सूर्य को तपाता है, जो वेदज्ञाता ब्रह्म को सताता है, वह उसकी दृष्टि में अपराध है। तद् यत्—इत्यादि वृहदारण्यक, 'एतंह्येन'—इत्यादि (ऐतरेय) इन प्रमाणों से वह एक ही परमात्मा अनेक देवता रूप में वर्णित है, यह वर्णन परमात्मा के विभिन्न शवल रूपों का है।

शङ्का—'हस्ते वज्रं भरति' आदि से प्रतीयमान बल और ज्ञान तो चेतन में ही हो सकते हैं तथा प्रसन्नता और फल प्रदान भी मुख्य-वृत्ति से चेतन के ही धर्म हैं, अतः देवता जड़ नहीं हैं, अन्यथा ऐसी उक्तियों की असङ्गतता की प्राप्ति हो जायेगी ।

समा०—परमात्मा से भिन्न अग्न्यादि को जीवविशेष की मान्यता अशास्त्रीय और अयुक्त है। एक ही तत्त्व के व्यष्टि तथा समष्टि रूप से पृथक् पृथक् अधिष्ठातृत्व सम्भव नहीं है। और एक यज्ञीय अग्नि का अन्य अधिष्ठाता और अपर यज्ञीय अग्नि का तथा इतर अग्नियों का इतर अधिष्ठाता सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अग्नि-सामान्य का एक अधिष्ठाता और अग्नि विशेष के अन्य अधिष्ठाता' की मान्यता निरर्थक है। जैसे "वया इदग्ने' (ऋ० १।५९।१)

अर्थात् हे वैश्वानराग्ने ! अन्याग्नयस्तव शाखाः, सर्वे देवास्त्वयि मादयन्ते, त्वं सर्वमनुष्यनाभिरसि, दृढस्तम्भ इव त्वं सर्वाश्रयः। अत एक एव परमात्मा प्रसिद्धाग्निना वैश्वानराग्निना सह शवलरूपेण पृथक् पृथग् वर्णितः, एवम् वायुरेव विशेषावस्थायाम् मरुदुच्यते न च वायोर्मरुद्-भिन्नतत्त्वम्।

इदमेव तत्त्वमेकदेवतात्मकं 'याज्ञवल्क्यशाकल्यसंवादे' (वृहदा० ३।९) प्रस्फुटं जायते। यथा-'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ, कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद उच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योम् इति होवाच।

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच, कत्येव देवा याजवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्य इत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति एक एव इत्योमिति

हे वैश्वानर ! आगे ! अन्य अग्नियाँ तुम्हारी शाखा हैं सब देवता तुममें आनन्द प्राप्त करते हैं। दृढस्तम्भ के समान तुम सबके आश्रय हो, अतः एक ही परमात्मा प्रसिद्ध अग्नि, वैश्वानर, अग्नि के साथ शवल रूप से पृथक्-पृथक् वर्णित किया गया है। एक वायु ही विशेष अवस्था में मरुत् कहलाती है, वायु से भिन्न मरुत् तत्त्व नहीं है। यही तत्त्व एक देवात्मक 'याज्ञवल्क्य, शाकल्य के संवाद से (बृह. ३।९) प्रस्फुटित हो जाता है। जैसे कि विदग्ध नामक शकल के पुत्र शाकल्य ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ? तब याज्ञवल्क्य ने इस आगे कहीं जाने वाली निविद् से ही उनकी संख्या का प्रतिपादन किया जितने वैश्व-देव की निविद् में अर्थात् देवताओं की संख्या बतलाने वाले पदों में बतलाये गये हैं। वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र है' ठीक है, फिर पूछा कितने है ? याज्ञवल्क्य ने कहा तेतीस। शाकल्य ने कहा–ठीक है।

शाकल्य ने फिर पूछा, कितने देव है ? याज्ञवल्क्य 'छः', शाकल्य ठीक है। फिर पूछा—'याज्ञवल्क्य। 'कितने देव हैं ? 'तीन'। फिर पूछा, तो कहा, 'दो' फिर पूंछा 'कितने ? कहा 'अध्यर्ध'। फिर पूछा, कितने हैं याज्ञवल्क्य ने कहा 'एक'। यह प्रकरण एक ही परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में सङ्गत होता है यही वैदिक सिद्धान्त है अन्य पक्ष संगत नहीं हैं। विग्रह आदि पक्ष में शरीर वर्णन आलङ्कारिक है, शेष भी परमात्मा में ही

होवाच "इदमेकस्यैव परमात्मनोऽधिष्ठातृत्वे एव सङ्गच्छते, अयमेव च वैदिकसिद्धान्तः नेतरौ पक्षौ सङ्गतौ। विग्रहादिपञ्चके शरीरवर्णनं सर्वत्रालङ्कारिकम् शिष्टमपि परमात्मनि एव सङ्घटते। इति संक्षेपः।

(६७७।अनु० १) आक्षेपः—मोक्षमूलरस्य खण्डनं कृतं, तत्तु यत्किञ्चित् पूर्वपक्षस्वरूपतन्निरसनयोरुभयोरप्यविज्ञानात्। भट्टमोक्ष-मूलरप्रयोगोऽपि तत्र नोचितः, तस्मिन् भट्टपदार्थासङ्गतेः, तदर्थाभि-प्रायेण तन्नामकरणाभावाच्च। भट्टत्वं षट्शास्त्राभिज्ञानामुपाधिर्न तत्र सोऽस्ति। तैरपि तदनङ्गीकारात्।"

समा०—इदमल्पमपि खण्डनमाङ्गलानां राज्ये निर्भीकार्यपरि-व्राजकस्य महोत्साहं सूचयति देशस्वातन्त्र्यकृत्मार्गदर्शनस्य। यदा भवान् स्वातन्त्र्याग्निनिर्वापण-क्रियाशीले अमन-सभासङ्घटने देशद्वेषि-कृतघ्न-श्रेणीमलङ्कुर्वाणोऽभवत्। तदा ऋषिस्तु देशस्वातन्त्र्यमार्गं प्रशस्तं कुर्वाण आसीत्। सत्यमुक्तं कविना भारविना :—

संघटित होता है, यह संक्षेप है। (६१७ अनु०१) आ०— इस प्रकार से मोक्षामूलर के मत का खण्डन भी उचित रूप से नहीं हुआ। यहाँ पर पूर्वपक्ष का स्वरुप और उसका खण्डन दोनों ही ठीक तरह से नहीं रखे गये हैं यह मोक्षमूलरभट्ट, यहाँ पर भट्ट-पद का प्रयोग भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें भट्ट पद के अर्थ की सङ्गति नहीं है। इस, अर्थ के अभिप्राय से यह नाम रखा भी नहीं गया है, षट् शास्त्र के अभिज्ञाता को भट्ट कहा गया है मोक्ष-मूलर में यह घटित नहीं है, इस बात को उन्होंने भी माना है।

यह थोड़ा सा खण्डन भी अंग्रेजों के राज्य में निर्भीक आर्य परिव्राजक के महोत्साह को सूचित करता है, देश को स्वतन्त्र करने वाले मार्ग का दर्शक है, जब कि आप स्वतन्त्रता की आग को बुझाने में क्रियाशील अमन सभा' सङ्गठन में देशद्रोही कर्ताओं की पङ्क्ति को सुशोभित कर रहे थे तब ऋषि दयानन्द स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। भास कवि ने सच कहा है। बनाये गये घाट वाले जलाशयों के समान विषम नीति मार्ग भी सुगम्य हो जाता है, परन्तु वह व्यक्ति दुर्लभ है जो कर्तव्य कर्म का प्रारम्भ करता है।" श्रीमान् जी आपको जानना चाहिये कि सर्व प्रथम ऋषि ने ही यह विधर्म अन्ध विश्वास और अयुक्त ऊटपटांग बातों के खण्डन करने का मार्ग प्रशस्त किया था।

"विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ इति

श्रीमन् भवताऽवधेयं यत् सर्वप्रथममृषिरेव विधर्मान्ध-विश्वास-युक्तमतानां खण्डनस्य मार्गं प्रशस्तं कृतवान्। किञ्च, तयोः पक्षयोरज्ञानादिति दम्भोक्तिस्ते अलीककल्पनाशीलमानसस्य कूपमण्डूकतामेव द्योतयति।

भट्टशब्दप्रयोगस्तु श्लेषात्मको बह्वर्थकस्तथापि भटतीति भटो भट्टो वा। भट्धातोर्बाहुलकात् तन्निरूपणम्। डाक्टरार्थवाचको भट्टशब्दः आप्टेमहोदयेनापि प्रायोजि।

म्लेच्छ-भेद इति हेमचन्द्रः पामरविशेष इति मेदिनी, वर्णशङ्कर-विशेषोऽपि भट्टः इति स्वामी अपि। एष्वर्थेष्वन्यतमे अर्थेऽत्र डाक्टरानुवादको भट्टशब्दो बहुव्यञ्जनाढ्यो योजनीयो यथावृत्ति, यथामति च। वेदानुवादप्रयासपरत्वे प्रथमोऽर्थः, वेदस्पर्शमात्रविधान-व्यवस्थापक पुराणपङ्के सीदतां भवादृशानां मते म्लेच्छभेदः इति, एवमग्रेऽपि ऊहनीयम्। नान्यः कश्चिदेतावान् समुपयुज्यते शब्दः।

तथा "पूर्वपक्ष के स्वरूप और उसके खण्डन का ऋषि दयानन्द को ज्ञान नहीं था" यह आपकी दम्भोक्ति है। यह कथन झूठी गप्प मारने वाले आपके मन की कूपमण्डूकता को ही प्रकट करता है।

भट्ट शब्द का प्रयोग ऋषि ने श्लेषपूर्ण बहुत अर्थों वाला प्रयुक्त किया है। भट् धातु से तन् प्रत्यय करने पर भट्ट डाक्टर अर्थ में प्रयुक्त किया, जैसा आप्टे महोदय ने भी प्रयुक्त किया है।

हेमचन्द्र ने म्लेच्छ-भेद में इसका प्रयोग किया है, मेदिनी में पामर विशेष में तथा स्वामी ने वर्ण संकर विशेषार्थ में भी प्रयोग किया है। इन अर्थों में से डाक्टर अर्थ वाला यह भट्ट शब्द बहुव्यंजनाजनक है। भाव और बुद्धि के अनुसार कहीं भी यथामति लगाया जा सकता है वेद के अनुवाद में प्रयास करने के कारण प्रथम अर्थ में है, वेद स्पर्श तक का अविधान करने वाले पुराणों के पङ्क में फसे हुये आप जैसों के मत में म्लेच्छार्थ में इसी प्रकार आगे भी समझ लीजिये। यहाँ पर "भट्ट" शब्द से अधिक उपयुक्त और कोई शब्द ही नहीं है।

कश्चिदप्यधीती भट्टशब्दवाच्यो भवेत् न तु षट्शास्त्रज्ञ एव तत्रैव प्रयोगादर्शनात्।

भवता मैक्समूलर इति शब्दः प्रयुक्तः। ऋषिणा त्वभिनन्दितं नाम्नोऽपि संस्कृतिकरणमिति नूतनवर्त्मप्रशस्तिरेव स्वामिनः। अपावनानां पावनीकरणवृत्तेर्नैसर्गिकत्वात् मोक्षमूलर इति वचनात् मोक्षस्य-मूलं राति ददाति, मोक्षमार्गं प्रशस्तं करोति स्वदेशीयानां कृते, यथामति वेदभाष्यकरणप्रयासादिति।

वस्तुतः अहर्निशं वर्षति वारिवाहस्तथापि पतत्रितयः पलाशः इत्यनुसृत्य बहुसविकल्पकप्रश्नोत्थापनिकापुरस्सरं व्याकरणे लकार-भेदान् प्रस्तुवता भवता मोक्षमूलरोपरि ऋषिदयानन्दकृत आक्षेप एव समर्थितो न ततोऽप्यधिकं किमप्यूहितम्। निर्बलं प्रलपतो भवतोऽयं गण्डस्योपरि विस्फोटः समजनि, यदन्ववदत् हिन्दाकारः 'ईश्वरोऽपि वेदस्य (पूर्वकल्पे विद्यमानस्य) आनुपूर्वीं स्मृत्याधारे उत्तरकल्पे उपदिशति" इति।

यतो हि न्यायविदो विदन्ति सौक्ष्म्यम् यत् 'स्मृतिः संस्कारमात्र-

आपने कहा, छः शास्त्र के ज्ञाता को ही 'भट्ट' कहते हैं यह आपका अज्ञान है, कोई भी अधीती 'भट्ट' कहा जा सकता है, केवल षट् शास्त्रविद्अर्थ में ही इसका प्रयोग निहित नहीं है।

आपने मैक्समूलर शब्द का प्रयोग करना पसन्द किया पर ऋषि ने तो 'मोक्षमूलर' कहकर नाम का संस्कृतीकरण कर नूतन पथ ही प्रशस्त किया। इससे प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द अपावनों को भी पावन करने की वृत्ति रखते थे, उनका स्वभाव था जैसा कि 'मोक्षमूलर' शब्द के प्रयोग से प्रकट है, मोक्ष का मूल अर्थात् वेद को अपने देश को देने वाला।

वास्तव में "रातदिन बादल बरसा पर ढाक के तीन ही पत्ते रहे" उक्ति के अनुसार बहुत से विकल्पोत्थानिका पूर्वक (व्याकरण में) लकार भेद आप प्रस्तुत करने लगे और अन्त में मोक्षमूलर के ऊपर ऋषि दयानन्द कृत आक्षेप का ही समर्थन किया। उससे अधिक आप कुछ भी ऊहन न कर सके। बेलगाम बोलने वाले आपके टीकाकार की कनपटी पर यह एक और फोड़ा निकल आया जो कि वे कहते हैं कि ईश्वर भी पूर्वकल्प में विद्यमान वेद का स्मृति के आधार पर उत्तर कल्प में उपदेश देता है।'

जन्यम् ज्ञानम् कथ्यते। अयं हि भावनाख्यः संस्कारः स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोः कारणम्, प्रत्यभिज्ञा च पूर्वदृष्टश्रुतादिवस्तुनः पुनः दृक्श्रवणादिगोचरत्वे परिचयनम्। स संस्कारो नेश्वरे संभवति, विस्मरणाऽभावात्। अनुभवस्य ज्ञानस्य वा स्मृतौ न कारणत्वं सम्भवति, इह ईश्वरज्ञाने पौर्वापर्याऽभावात् तस्मादिह सर्वज्ञेश्वरस्य नित्यज्ञानवत्त्वात् दर्शन सूक्ष्म-तत्त्वविवेचनाऽक्षमतैव स्पष्टा तट्टीकाकृतो दर्शनाचार्यस्य।

(पृ० ६८१) आक्षे०—'ततोऽपि मन्दाः पाश्चात्यास्तदनुयायिनो दयानन्दस्तदीयाश्च लुङादिभिर्मन्त्राणां ब्राह्मणानां च सादित्वं पौरुषेयत्वं चापादितवन्तः।"

समा०—इदन्तु तवैव मन्दमतित्वम्। (मन्त्राणां) वेदमन्त्राणां तु सादित्वं पौरुषेयत्वं वा न क्वापि ऋषिणा प्रतिपादितम् ब्राह्मणानां तूभयमस्त्येव मनुष्यशरीरधारिभिर्निर्मितत्वात्। अत्र निर्मलोक्तिरेषा सङ्गता—

न्यायविद इस सूक्ष्मता को समझते हैं कि संस्कारमात्र जन्य ज्ञान का नाम स्मृति है और यह भावनाख्य संस्कार स्मृति और प्रत्यभिज्ञता का कारण होता है। पूर्वदेखी या सुनी हुई वस्तु फिर से दृष्टि या श्रवण में आने पर पहचानना प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। वह संस्कार ईश्वर में कैसे सम्भव हो सकता है। क्योंकि ईश्वर को विस्मृति नहीं होती। अनुभव या ज्ञानत्व यहाँ स्मृति के कारण नहीं, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में पौर्वापर्य का अभाव होगा, अतः यहाँ सर्वज्ञ ईश्वर के नित्य ज्ञानवान् होने से हमारी जैसी स्मृति नहीं होती। उक्त लेख में 'स्मृत्याधार' कथन से टीकाकार दर्शनाचार्य की दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म-विवेचना की अक्षमता स्पष्ट प्रतीत होती है।

(पृ० ६८१) पू० प० 'ये पाश्चात्य विद्वान, उनके अनुयायी, दयानन्द और उनके शिष्य इन नास्तिकों से भी अधिक मन्द बुद्धि के हैं, जो लुङ आदि के द्वारा मन्त्रों और ब्राह्मणों की सादिता और पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं।"

समा०—यह तो आपका मन्दमतित्व है, जो आप ऋषि दयानन्द द्वारा मन्त्रों का सादित्व और पौरुषेयत्व सिद्ध करना प्रतिपादित कर रहे हैं। आप मन्त्रों की आड़ में चालाकी से ब्राह्मण ग्रन्थों को भी लपेट में लेकर मन्त्र समता प्रकट करना चाहते हैं। ब्राह्मणों की तो सादिता और पौरुषेयत्व

श्रुतेरनादित्वमृषिर्ह्यसाधयत् अपौरुषेयत्वमिह प्रमाणितम्।
मृषैव सादित्वमृषौ समाक्षिपत्, इदं कुवृत्या करपात्रजल्पनम्।

(पृ० ६८२) यदुक्तं 'प्रातिशाख्याद्यनभिज्ञा एव वेदेषु लौकिकमितहासं सिसाधयिषन्ति।" अयमाक्षेपस्तु पौराणिकमतावलम्बिषु भवादृशेष्वेव घटते नत्वस्मासु, ऋषिदयानन्देनैव वेदेष्वैतिहासिकतायाः सर्वप्रथमं खण्डितत्वात्।

तथाहि सनातन धर्मि शिरोमणयः सामश्रमिणः प्राहुर्यत् 'वैदिकाख्यायिकोक्तो वृत्तान्तभाग उपमामूलकः परिकल्पितः, नह्यनित्येतिहासपरकः। अतश्छिन्नेषु मूलेषु कुतो न पतेयुः पौराणिकेतिहासाद्भुतकथाः सर्वा वातेन कदलीवनानि यथेति।"

निर्णयसागर मुद्रणप्रकाशित नवाह्निकमहाभाष्यटिप्पण्यां पौराणिक-संस्काराभिभूतौ वैयाकरणौ महामहोपाध्याय श्री शिवदत्त श्री रघुनाथ शास्त्रिणौ २९ तमे पृष्ठे "त्वष्टुर्हवै पुत्रस्त्रिशीर्षा—इत्याद्युद्धरणे लिखतः शतपथ ब्राह्मणे प्रथमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके

मनुष्यशरीरधारी ऋषियों द्वारा निर्मित होने के कारण सिद्ध है। यहाँ पर यह निर्मलोक्ति घटित हो रही है :—

ऋषि दयानन्द ने श्रुति की अनादिता सिद्ध की है और अपौरुषेयत्व भी प्रमाणित किया है। तुमने ऋषि पर सादित्व-साधन दोष झूठा आरोपित किया है। करपात्री जी ! आपकी यह जल्पना दुर्वृत्ति के कारण है।

(पृ.६८२) कि प्रातिशाख्यादि से अनभिज्ञ ही वेदों में लौकिक इतिहास सिद्ध करना चाहते हैं, यह आक्षेप तो पौराणिक मतावलम्बी आप जैसों पर ही घटित होता है न कि हम लोगों पर। ऋषि दयानन्द ने ही वेदों में इतिहास होने का सर्वप्रथम खण्डन किया है।

जिस प्रकार कि सनातन धर्मियों के शिरोमणि सामश्रमी ने भी कहा है कि वैदिक आख्यायिकाओं मे कहा हुआ वृतान्तभाग उपमामूलक परिकल्पित है, अनित्य इतिहास-परक नहीं है। अतः पौराणिक इतिहास की अद्भुत कथायें छिन्नमूल वृक्षों के समान क्यों न गिर जावें, जैसे कि तीव्र वायु से कदलीवन गिर जाते हैं।"

द्वितीय ब्राह्मणे च समुपलभ्यमानस्यैतिहासस्य 'त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः" इति निरुक्ते सूचितत्वात् त्वष्टृवृत्रेन्द्रादीतिहासस्य मिथ्यात्वं वदन् अभिनवस्वामी (दयानन्दः) त्वप्रत्यक्ष-शास्त्रैकगम्य पदार्थ - खण्डनाग्रहग्रस्तत्वादनधीतसंस्कृत - ग्रन्थलोकप्रतारणाय स्वाभिमते शतपथनिरुक्तयोः प्रामाण्यमुद्घोषयन् पराभिमते तदपह्नवानः स्वाम्येवेति बोध्यम् ।"

कथय, साम्प्रतमेषा कूपमण्डूकता तादृशपौराणिकपुङ्गवानामेव नास्ति किम् ? वेद ब्राह्मणग्रन्थेषु नश्वरेतिहासमान्यता तु भवन्मतानुयायिनामेव । तथा मते तु इन्द्रविश्वरूपादि-युद्धान्तरमेव वेदमन्त्ररचनासिद्धिरापतेत् । कथं तेषां पुनरनादिनिधननित्यता सिध्येत् ? नायमितिहासस्तैर्मन्यतेऽलौकिकः, लौकिकघटनात्मकत्वेन एवंविधैर्वर्णितत्वात् ।

निर्णय सागर मुद्रणयन्त्र से प्रकाशित नवाह्निक महाभाष्य की टिप्पणी में पौराणिक संस्कारों से अभिभूत वैयाकरण महामहोपाध्याय श्री शिवदत्त जी तथा श्री रघुनाथ शास्त्री २९ पृ. पर 'त्वष्टुहं वै—'इत्यादि उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण (प्रथम काण्ड ५ प्रपाठक द्वितीय ब्राह्मण) में समुपलभ्यमान इतिहास के 'त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' । ऐसा निरुक्त में सूचित किये जाने से त्वष्ट्रा, वृत्र, इन्द्रादि इतिहास को मिथ्या कहते हुए अभिनव स्वामी दयानन्द तो अप्रत्यक्षशास्त्रैकगम्य पदार्थ के खण्डन के आग्रह से ग्रस्त होने के कारण, संस्कृत-ग्रन्थों को न पढ़े हुए लोगों के वञ्चन के लिए अपने अभिमत में शतपथ और निरुक्त के प्रामाण्य की घोषणा करते हुए, दूसरे के अभिमत में उसे झुठलाते हुए स्वामी ही हैं ।"

अब बताइये, क्या (अनित्य इतिहास मानना) यह कूपमण्डूकता आप सदृश पौराणिक पण्डितों की ही नहीं है ? वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास-मान्यता आपके मतानुयायियों की ही है । इससे तो इन्द्र विश्वरूपादि के युद्ध के अनन्तर ही वेदमन्त्रों की रचना-सिद्धि मानी जाने लगेगी, फिर उनकी अनादिता और नित्यता कैसे सिद्ध होगी ? वे पौराणिक इस इतिहास को अलौकिक मानते नहीं ऐसे ही लोगों ने इसे लौकिक घटनाओं के रूप में वर्णित किया है ।

ऋषिदयानन्दस्त्वालङ्कारिकतां साधयति एवंविधस्थलेषु । भवादृक्पण्डितैर्भाष्यभूमिकाया निम्नाशयपङ्क्तयोऽध्येतव्या आसन् ।

१. सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलाः ।

२. मुख्ययुद्धसम्भवाऽभावादौपचारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना ।

वस्तुतः ऋषि दयानन्दमाक्षिपन्तो नेमे स्वसिद्धान्त-नाशचिन्तामपि कुर्वते । सत्यमेव 'स्वनासा नाम छिद्येत पराऽपशकुनं भवेत्' । यथा च विद्वांसो विमृशन्तु यदयं पृ०७०३ तः ७०५ यावत् लिखति ।,

(पृ० ७०३ अनु०२) पू० प० "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् यद्देवेषु त्र्यायुषंतन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् (वा० सं० ३।६२) इति मन्त्रेऽपि व्यक्तिविशेष-नामोल्लेखो दृश्यत एव । यदुक्तं (स्वामिना) चक्षुर्वै जमदग्निः (श० ८।१।२।३) 'कश्यपो वै कूर्मः' 'प्राणो वै कूर्मः (शत० ७।५।१।५,७) इत्यादि वचनैः चक्षुःप्राणयोरेव जमदग्नि-कश्यपादि-संज्ञा न कस्यचिद्देहधारिणः इति, तदपि तुच्छम् । यथा योषायामग्निपदप्रयोगेऽपि नाग्निपदार्थापलापस् तथैव चक्षुरादिषु जमदग्न्यादि पद प्रयोगेऽपि न मुख्य-जमदग्न्यादीना-

---

ऐसे स्थानों पर ऋषि दयानन्द ने तो आलङ्कारिकता ही मानी है, आप जैसे पण्डितों को भूमिका की निम्नलिखित पंक्तियां पढ़नी चाहिये थीं ।

१—सर्व इतिहास अर्थवादमूलक है ।

२—मुख्य युद्ध सम्भव न होने से उपमा-लक्षणार्थ के द्वारा औपचारिकी युद्ध वर्णना है ।

वस्तुतः ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करते हुये इन स्वार्थान्धों को अपने सिद्धान्त-नाश का भी होश नहीं रहता । सत्य है 'अपनी नाक चाहे कट जावे, पर दूसरों का अपशकुन अवश्य हो ।'

विद्वज्जन विचार करें कि यह लेखक पृ० ७०३ से ७०५ तक लिखता है कि 'त्र्यायुषं जमदग्नेः, मन्त्र में व्यक्ति विशेष (जमदग्नि, कश्यप) का नामोल्लेख स्पष्ट दिखाई दे रहा है। तथा च स्वामी दयानन्द ने 'जमदग्नि' का अर्थ 'चक्षु' और 'कश्यप' का अर्थ 'कूर्म' (प्राण) लिया है और कहा है कि 'जमदग्नि' 'कश्यप' आदि संज्ञा किसी शरीरधारी की नहीं है, यह कथन भी

मृषीणामपलापः सम्भवति।" पुनः (पृ० ७०४) उव्वटसायणमहीधरा-नुसारम् अर्थोऽयं यत् 'जमदग्नेर्मुनेस्त्रयाणां वाल्ययौवनस्थविराणा-मायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्"

पुनः (पृ० ७०५) 'इतिहासे सत्यपि मन्त्राणां यथा वेदत्वं तथा ब्राह्मणभागस्याऽपि"

(उ० प०) अत्र प्रत्यक्षमनेन जमदग्न्यादीनामुत्पत्त्यनन्तरं लौकिके-तिहासो दर्शितः। वस्तुतो जमदग्न्यादीनामन्येऽप्यर्थाः सम्भवन्ति, परमिमेऽप्यर्थाः त्रयः चक्षुः प्राणादयः सर्वथा सङ्गताः। यथा शतपथे (१३।२।२।१४) "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत्पश्यति, अथो मनुते तस्माच् चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। त्र्यायुषं जमदग्नेः, (यजु० ३।६२) मन्त्रस्य चक्षुः प्राणादिपर एवार्थो विहितः। अत ऋषिवचनमेव सत्यम्।

फलतः सिध्यति "सत्यार्थाभिधायकैर्वेदानां सत्यविद्यानां प्रकाशः क्रियते, न च लौकिकेतिहासस्य। अतः सायणादिभिः स्वस्व-निर्मित-

---

तुच्छ है। उसी प्रकार 'जमदग्नि' आदि पदों के प्रयोग में मुख्य जमदग्नि आदि ऋषियों का अपलाप कैसे किया जा सकता है, अतः यह कथन भी तुच्छ है।

(पृ० ७०४) पर 'उव्वट' सायण और महीधर के अनुसार यह अर्थ है कि "जमदग्नि मुनि की बाल्ययौवन, और बुढ़ापे की आयु का समाहार त्र्यायुष हुआ तथा ७०५ पृ० पर "यह भौतिक इतिहास होने पर भी जैसे मन्त्रों का वेदत्व है, उसी प्रकार ब्राह्मण भाग का भी है।"

उ० प०—इन स्थलों पर प्रत्यक्ष ही करपात्री जी ने जमदग्नि आदि की उत्पत्ति के अनन्तर लौकिक इतिहास दिखाया है। वास्तव में जमदग्नि आदि के और अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु चक्षु, प्राण आदि अर्थ यहाँ सर्वथा सङ्गत हैं। जैसे शतपथ १३।२।२।१४ में "चक्षु जमदग्नि ऋषि है" क्योंकि यह इसके द्वारा जगत् को देखता है। इसलिये मानते हैं, चक्षु जमदग्नि ऋषि है।

यजु० के ३।६२ मन्त्र में जमदग्नि आदि का चक्षु आदि अर्थ किया है।

अतः ऋषि दयानन्द का यह वचन ही सत्य है कि

"सत्यार्थ अभिधायक वेदों के शब्दों से सत्य विद्याओं का प्रकाश किया जाता है। यह सिद्ध होता है। लौकिक इतिहास सिद्ध नहीं होते। अतः सायण

टीकासु वेदेषु यत्र यत्र इतिहास वर्णनं कृतं तत् सर्वं मिथ्यैव।" परम् इह निर्मलोक्तिरेषा सुघटिता :—

द्वेषाविष्टमतिर्यदाऽऽक्षिपति हा प्राच्ये मृषा स्वामिनि।
'वेदे भो इतिहास मेतदनुगा एषोऽपि हा मन्यते।'
ऐतिह्यं ह्यूररीकृतं भ्रमवशात्तैः पाशितज्ञप्तिभिः,
काषायाम्बरधारिणोऽपि वत ते तत्पक्षरक्षाविधिः॥

(पृ० ६८२ अनु० २) आ०—यदुक्तं 'ये वेदादि शास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वा अध्यापयन्ति ते प्राचीनाः ये चाधीयते ते नवीनाः तैः ऋषिभिरग्निरीड्यः" इति तदपि निर्मूलम्, अध्यापयितृषु अध्येतृषु चर्षित्वस्य निष्प्रमाणत्वात् इति।

(समा०) परं वस्तुतः करपात्रोक्तमेव निर्मूलम्, प्रमाण बुद्धि विरुद्धत्वात्। न ह्यत्र नियामकं किमपि यदध्यापयिता, अध्येता वा प्रच्यवते ऋषित्वात्। ऋषिराचार्यः स चाध्यापयिता भवत्येव। यथा मनुराह—

आदि ने अपनी टीकाओं द्वारा वेदों में जहाँ-जहाँ लौकिक इतिहास दिखाया है, वह सब मिथ्या ही है।" यहाँ निर्मलोक्ति संघटित है :—

श्री करपात्री द्वेष से आविष्ट-मति होकर पूजनीय स्वामी दयानन्द में मिथ्या आक्षेप करते हैं, कि स्वामी दयानन्द और इनके अनुयायी वेदों में सादि इतिहास मानते हैं" भ्रमविलास में फंसी बुद्धि वालों ने वेदों में इतिहास पक्ष स्वीकार लिया है। दुःख है कि कषाय वस्त्र धारण करने वाले आप भी उस पक्ष की रक्षा में लगे हैं।

(६८२।अनु०२) आक्षेप—"जो वेदादि सत्यशास्त्रों को पढ़कर और विद्वान् होकर पढ़ाते हैं वे प्राचीन और जो पढ़ते हैं वे नवीन हैं, उन ऋषियों के द्वारा अग्नि (परमेश्वर) उपासनीय है ? यह भूमिका कथन भी निर्मूल है, क्योंकि अध्यापक और अध्येताओं में ऋषित्व प्रमाणित नहीं है।

समा०—वस्तुतः यह करपात्री जी का कथन ही निर्मूल है, प्रमाण और बुद्धि दोनों के विरुद्ध है। यहाँ पर कोई ऐसा नियामक प्रमाण नहीं है कि पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले ऋषित्व से गिर जाते हैं। ऋषि, आचार्य पढ़ाने वाले होते चले आये हैं। मनु ने भी कहा है :—

उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।। (२।१४०)

'न चास्य कुतर्कस्यायमर्थो यद् वेदाध्यापक एव आचार्यो, नान्यः, तथा प्रश्नोपनिषदि शाङ्कर भाष्ये 'पिप्पलादमाचार्यमुपजग्मुः'' इह अध्येतारः अपि ऋषयः, पिप्पलादोऽपि ऋषिः, काऽत्र ते विप्रतिपत्तिः ? एवम् स्वामिकृत एवार्थः सूपपद्यते । मक्षिकास्थाने मक्षिका-निपात-निपुणेन भवता दुर्गाचार्यरीतिस्तूद्धृता, परं स्वामिनस्तात्पर्यं कथं विसङ्गतमिति नो दर्शितम् । हे साधुवेशधारिन् ! कदापि तु वेशलज्जां रक्ष । नहि स्वामिनो अध्येत्राध्यापकार्थं पोषयितुं निरुक्तं प्रस्तुतम् । ऋषि शब्देन मन्त्राः प्राणास्तर्काश्चार्थाः गृह्यन्ते तत्र यदुक्तं 'प्राणानामचेतनत्वात् स्तुतेर्जडकतृत्वादसम्भवात् इति ।

परं नहि अत्र प्राणाः कर्तृत्वेन प्रस्तुताः प्रत्युत साधनत्वेन करणे प्रयुक्ताः यथा च 'मन्त्रदृष्दृभिर्मनुष्यैर्यन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चाहमेव ईड्यः । परमिह तु मोक्षमूलरेण मन्त्राभ्यूहनं विनैव अनादिवेदसत्तायामाक्षेपः कृतस्तन्निरासायोदधृतमदः ।

"जो गुरु शिष्य का उपनयन करके शिष्य को सकल्प, सरहस्य वेद पढ़ाये उसे आचार्य कहते हैं ।

इसमें कुतर्क करने से यह अर्थ भी नहीं हो सकता कि वेद का अध्यापक ही आचार्य होगा, अन्य नहीं हो सकता शाङ्करभाष्य प्रश्नोपनिषद् में लिखा है 'कि पिप्पलाद आचार्य के पास पहुंचे । यहाँ पढ़ने वाले छहो ऋषि हैं और पढ़ाने वाले पिप्पलाद भी ऋषि हैं । अब बताइये, आपको क्या सन्देह रह गया । इस प्रकार स्वामिकृत अर्थ ही सूपपन्न है । मक्खी के स्थान पर मक्खी बिठाने में निपुण आपने दुर्गाचार्य रीति तो उद्धृत कर दी, परन्तु स्वामी जी का तात्पर्य यहाँ कैसे संगत नहीं है, यह नहीं बताया ।

हे साधुवेशधारिन् ! कभी तो वेश की लज्जा रक्खो ! स्वामी जी ने अध्येता और अध्यापयिता अर्थों की पुष्टि के लिये निरुक्त का उद्धरण नहीं दिया । ऋषि शब्द से मन्त्र, प्राण, और तर्क यह अर्थ भी गृहीत होते हैं । यहाँ पर आपने कहा, कि प्राण जड़ हैं, अतः वे स्तुति नहीं कर सकते, पर महोदय ! 'प्राण' यहाँ कर्तृत्वेन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत साधनत्वेन अभीष्ट

(पृ० ६८३) आक्षेपः—'तत्'शब्देन मन्त्रसमूहस्याप्रकृतत्वात् तत् परामर्शो न युक्तः ।' तत्र हि अक्षर—निर्वचनप्रसङ्गः । प्रकृतिशब्देन पदशब्दाक्षर-समुदायानां कथं ग्रहणम्, ? मन्त्रसमुदायस्य तु मन्त्राः एव प्रकृतयः, तैरेव समुदायारम्भात् । पदशब्दयोः शब्दाक्षरयोश्च को भेदः ?

समा०—विपश्चितो जानते यत्पूर्वं 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्' इति मन्त्रो विद्यते । तत्र अक्षर-शब्दस्य निर्वचनम्, यास्काचार्येण कृतम्, भवता ह्यत्र दुर्गाचार्यलेखोऽवतारितः'' तत्प्रकृतीतरत् स्वराख्यमक्षरम् इत्यादि, परं बुद्धिमन् ! एषोऽर्थस्तु इतरच्छब्दद्योतितः, न च तत्प्रकृतिशब्दयोरर्थः, तयोरितर एव एषः ।

तथा तस्य (मन्त्रसमूहस्य) प्रकृतयः (पदशब्दाक्षरसमुदाया एव) तासाम् व्यञ्जनस्वरयोरितरदिति यावत् । न चेदमत्र शङ्कनीयम् यत् इतरदिति शब्देन व्यञ्जनं कथं न गृह्यते, तदत्र समाधानं यत्

हैं क्योंकि मन्त्रद्रष्टा भी ऋषि और जिन मन्त्र, प्राण, और तर्क के माध्यम से जिस ईश्वर की उपासना करेंगे वह भी ऋषि है । यहाँ पर तो मोक्षमूलर ने मन्त्र का तर्क द्वारा विचार किये बिना ही वेद की अनादि सत्ता पर आक्षेप किया है, उसका निरसन ऋषि दयानन्द ने किया है अतः यह उद्धरण दिया गया है ।

(६८३) आ०—'तत्' शब्द से तत् प्रकृतीतरत्, में मन्त्र समूह के अप्रकृत होने से उसका परामर्श करना ठीक नहीं । वहाँ पर अक्षर के निर्वचन का प्रसङ्ग है । प्रकृति शब्द से पद-शब्दाक्षर-समुदायों का कैसे ग्रहण होगा ? मन्त्र समुदाय की तो मन्त्र ही प्रकृतियां हैं, उन्हीं के द्वारा समुदाय का आरम्भ होने के कारण से पद और शब्दों में, तथा शब्द और अक्षरों में क्या भेद है ?

समा०—विद्वान् लोग जानते हैं, कि इससे पूर्व 'ऋचो अक्षरे'—यह मन्त्र है । इसमें 'अक्षर' शब्द का निर्वचन यास्क ने किया है । आपने यहाँ पर दुर्गाचार्य का सारा लेख उतार दिया है कि "स्वर रूप अक्षर व्यञ्जन से भिन्न हैं.' परन्तु श्रीमन् ! (अभी आपने यह कहा है कि व्यञ्जन की प्रकृति स्वर है तो बताइये, 'प्रकृतेः इतरत्' अर्थात् स्वर से भिन्नव्यञ्जन होना चाहिये न कि व्यञ्जन से भिन्न स्वर) दुर्गाचार्य का 'स्वराख्यमक्षरम्' यह अर्थ 'इतरत्' शब्द से द्योत्य है । 'स्वराख्यमक्षरम्' यह न तो 'तत्' शब्द का अर्थ है और न 'प्रकृति' शब्द का । इन दोनों से 'स्वराख्यमक्षरम्' यह

व्यञ्जने वर्तनसामान्यता नास्ति, यतोहि स्वर एव व्यञ्जनेषु सामान्यतया तिष्ठति। एतदनुशीलनं भवन्मतिस्तरादुच्चैस्तरम्।

महोदय ! अत्र मन्त्रसमूहस्तु पदशब्दाक्षरसमुदायो भवति, इतरदिति द्वयोरेकतरदित्यर्थः; परं द्वित्वं नाम किमभिलक्ष्य इतरदिति प्रयोगे घटते ? इत्यस्य समाधानं दुर्गाचार्यटीकायामपि नास्ति। अत ऋषिणा समाहितम् :—मन्त्रगतपदेषु शब्दाः, (वर्णाः), अक्षराणि, (स्वराश्च) सभवन्ति, तयोर्वर्णस्वरयोरितरत् स्वराख्यमिति विवेकः। न च शब्देन अक्षराण्यपि अभिधास्यन्ते इति वाच्यम् पुनः 'शब्द' शब्द पाठेन व्यञ्जनार्थाभीष्टत्वात्, भवतः प्रश्नानुप्रश्नततयस्तु रासभलत्तिकानुलत्तिका-प्रसूतिरिव निष्प्रयोजना एव। भवता च "प्रकृतीतरद्" व्यञ्जनभिन्नमित्यर्थं उपन्यस्तः, परं न प्रकृतेरर्थो व्यञ्जनं क्वापि, न वा स्वरस्य प्रकृति र्व्यञ्जनं भवति। प्रकृतौ तु स्वरव्यञ्जनयोर्द्वयोरत्र समावेशो युक्तः, प्रकृतयो हि धातवस्तेषां तु उभयवत्त्वात्।

अर्थ इतर ही है वह कैसे हुआ ? यह समझिये। (तस्य) मन्त्र समूह की (प्रकृतयः) अर्थात् पद शब्दाक्षर समुदाय हुआ, उन प्रकृतियों अर्थात् व्यञ्जन और स्वर दोनों में से इतरत् स्वराख्य है। शङ्का होती है कि 'इतरत्' शब्द व्यञ्जन क्यों नहीं लिया गया ? उसका समाधान यह है कि व्यञ्जन में वर्त्तन-सामान्यता नहीं है, क्योंकि स्वर ही व्यञ्जन में सामान्यतया रहता है, पर यह अनुशीलन करना आपकी मति के स्तर से परे था।

महोदय ! यहाँ पर मन्त्र समूह तो पदशब्दाक्षर समुदाय होता है। 'इतरत्' का अर्थ दो में से एक होता है। पर आप नहीं बता सकते कि वह द्वित्व क्या अभिलक्षित करके है ? इसका समाधान दुर्गाचार्य की टीका में भी नहीं, अतः तपस्वी ऋषि दयानन्द ने समाधान ऊहित किया है कि मन्त्रगत पदों में शब्द अर्थात् वर्ण (व्यञ्जन) और स्वर अर्थात् अक्षर सम्भव हैं, इन वर्ण स्वर में इतरत् 'स्वराख्यमक्षरम्' है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'शब्द' कहने से तो अक्षर भी कह दिये जायेंगे। क्योंकि 'शब्द' शब्द के कहने से व्यञ्जनार्थ ही भूमिकाकार के लिये अभीष्ट है।

आपने यहां पर प्रश्नों और अनुप्रश्नों की झड़ी लगा दी है। वह रासभी दुलत्ती-नौरन्तर्य के समान निष्प्रयोजन ही है तथा आपने 'प्रकृतीतरत्' इसका अर्थ 'व्यजनभिन्नम्' दिया है, पर प्रकृति का अर्थ व्यञ्जन नहीं है और न स्वर

(पृ. ६८४ पं० १२) इत्यत्र यदुक्तं "दयानन्दरीत्या चिन्ताशब्दो निरर्थक एव, तेन मन्त्राभ्यूहन शब्दस्यैव "कोऽय खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहः बुद्धावाभिमुख्योहो विशेष-ज्ञानार्थस्तर्कः" इत्यर्थकरणात्।

समा०—इदं तु भवदज्ञानपल्लवितम्, नहि चिन्ता शब्दो अभ्यूहपर्याये प्रयुज्यते, तदर्थान्यत्वात्। अभ्यूहा तु आभिमुख्येन ऊहा भवति, परं चिन्ता आध्याने, ध्याने वा प्रयुज्यते। तथाहि "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः (न्याय द० १।१।४०), तथा (न्या०भा० १।२।७) "विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयात् यत्समीक्षणम् सा चिन्ता (सा जिज्ञासा)।"

तथा च वात्स्यायनभाष्ये (न्या० १।१।४०) 'अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा (चिन्ता) तावज्जायते जानीयेममर्थमिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्थमाहोस्विन्नेत्थमिति विमृश्यमानयोः धर्मयोरेककारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन्कारणं प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवम् नेतरदिति।" तत्र निदर्शनम्, योऽय ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते त

की ही प्रकृति व्यजन होती है। धात्वर्थ वाचक प्रकृति में तो स्वर और-व्यजन दोनों अर्थों का होना सम्भव है।

(पृ० ६८४ पं० १२)—यह कथन कि 'दयानन्द की रीति से चिन्ता शब्द निरर्थक है, क्योंकि उन्होंने मन्त्राभ्यूह शब्द का ही यह अर्थ किया है कि इस मन्त्र का अर्थ क्या होगा? इस तरह का अभ्यूह अर्थात् बुद्धि में भली भाँति से ज्ञान का उद्भावक तर्क होता है"। पर यह अज्ञान मात्र है। श्रीमान् जी ! चिन्ता का प्रयोग अभ्यूहार्थ में नहीं होता। 'प्रत्यूहा' तो आभिमुख्य से ऊहन करना ही है, परन्तु चिन्ता का प्रयोग आध्यान व ध्यान अर्थ में होता है। सो इस प्रकार 'जिस पदार्थ का यथार्थ रूप ज्ञात न हो उसका यथार्थतया जानने के लिए कारण के आरोप द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए ऊहन करना तर्क कहाता है" (न्या० १।१।४०) उसी प्रकार (न्या० भा०१।२।७१) विमर्श से लेकर निर्णय से पहले २ जो पक्ष प्रतिपक्ष विषयक साध्य तथा साध्याभाव की जिज्ञासा है 'चिन्ता' कहलाती है।

इस प्रसङ्ग में १।१।४० का वात्स्यायन भाष्य भी देखिये, 'अविज्ञायमान तत्त्व वाले अर्थ में जिज्ञासा (चिन्ता) होती है कि मैं इस अर्थ को जानूं। इसके

तत्त्वतो भो जानीयेति जिज्ञासते।·········विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति।······· यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, सोऽयमेवं-लक्षणः ऊहस्तर्क इत्युच्यते (न्या० १।२।७)

न्यायवृत्तो धर्मिणः साध्यवत्त्वम् तदभाववत्त्वम् वेति चिन्ता जिज्ञासा। अर्थात् अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे तत्त्वजिज्ञासा चिन्ता, जिज्ञासितस्य तत्त्वज्ञानार्थं कारणोपपत्तित ऊहस्तर्क इति विवेकः।

एवम् स्पष्टमस्ति यद्दर्शनसूक्ष्मतत्त्वविवेचने ऋषिदयानन्दस्य मतिरेव समर्थाऽभूत्, न तु छलजातिनिग्रहस्थानानाम् प्रतिवाक्येऽन्वेषणपराणां भवादृशाम् सङ्कीर्णा बुद्धिः।

(पृ० ६८४ अनु० २,) यदुक्तं नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथङ् मन्त्रार्थाः निर्वक्तव्याः'' इत्यप्यशुद्धम्, श्रवणमात्रेणैव मन्त्रार्थनिर्वचनासम्भवात्।

समा०—वस्तुतः इदमशुद्धकथनमेव अशुद्धमशुद्धचिन्तनशील-

बाद जिज्ञासित वस्तु के व्याहत धर्मों का विभाग से विमर्शन करना कि यह ऐसा है या कि ऐसा नहीं हैं और विमृश्यमान दोनों धर्मों में एक का कारणोपपत्ति से यह अनुमान करता है कि इसमें यह कारण हो सकता है, ऐसा कारण, प्रमाण या हेतु कारणोपपत्ति से यह ऐसा ही हो सकता है अन्य नहीं हो सकता, यह ऊहन 'तर्क' कहलाता है।

न्याय वृद्धि में धर्मी की साध्यवत्ता है या उसका अभाव है इस प्रकार की चिन्ता को जिज्ञासा कहते हैं, अर्थात् अविज्ञात तत्त्वार्थ में तत्त्व जिज्ञासा 'चिन्ता' और जिज्ञासित के तत्त्वज्ञानार्थ कारण की उपपत्ति से ऊह करना तर्क है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म-तत्त्व-विवेचन में ऋषि दयानन्द की ही बुद्धि समर्थ हो सकी। प्रतिवाक्य में छल, जाति, निग्रहस्थान मात्र ढूंढने वाले आप जैसों की संकीर्ण बुद्धि समर्थ नहीं है।

पृ० ६८४ अनु०२' आ०—यह कथन ''केवल श्रुतिमात्र से ही नहीं तर्क के सहारे भी पृथक्-पृथक मन्त्रों का अर्थ विवेचन करना चाहिये। भी गलत है, क्योंकि श्रवण मात्र से अर्थ का निर्वचन हो ही नहीं सकता।

समा०—वस्तुतः आपका यह अशुद्धकथन ही अशुद्ध चिन्तनशील होने

त्वाद्भवतः। सत्यमस्ति ''सुन्दरमणिमयभवनेऽन्विष्यति पिपीलिका रन्ध्रम्।'' यदि भवान् ऋषेर्हिन्दीव्याख्यामद्रक्ष्यत् तदा ऐहिकनिखिलावबोधोऽभविष्यत्। तद्यथाः-'वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना चाहिये कि जब तक सत्यप्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों के पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात को छोड़कर आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होगा।'' नेह शङ्कताम् यदेतावानर्थः कुतो बुद्धः तस्याभ्यूहितत्वात्।

पृ० ६८५ अनु० २—यदुक्तम् ''नहि मन्त्रार्था निर्वक्तव्या भवन्ति, प्रत्युत मन्त्रा एव'' इति कथनं तु अज्ञानमेव, यतो हि निर्वक्तव्या निश्चयेन वक्तव्यास्तु मन्त्रा अपि मन्त्रार्था अपि भवन्ति। 'मन्त्रार्थेषु किम् पार्थक्यम्, इत्यस्य उत्तरे तु इदमेव वक्तव्यमस्ति यद् आध्यात्मिकाधिभौतिकादित्वेन पृथग्पृथगेव मन्त्रार्था जायन्ते।

के कारण अशुद्ध है। सच है ''सुन्दर मणि निर्मित भवन में भी चींटी छिद्र ही ढूंढा करती है ''यदि आपने ऋषि की हिन्दी व्याख्या देखी होती तो इस विषय का सम्पूर्ण बोध हो जाता जैसा कि ऋषि ने लिखा है। (वेदों के व्याख्यान० इत्यादि ऊपर संस्कृत में)

यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि इतना हिन्दी का अर्थ कहां से निकल आया क्योंकि ऋषि दयानन्द ने अक्षरानुवाद न करके अपनी प्रतिभा से इस समस्त अर्थ का अभ्यूहन किया।

(पृ६८५ अनु०२)—आपने लिखा, है कि ''पृथक् २ मन्त्रों के अर्थों का निर्वचन नहीं किया जाता प्रत्युत मन्त्रों का ही निर्वचन किया जाता है'' यह कथन भी अज्ञान मात्र है, क्योंकि 'निर्वक्तव्य' का अर्थ है निश्चयेन वक्तव्य, सो मन्त्र तथा मन्त्रार्थ दोनों ही निश्चित वक्तव्य होते हैं। मन्त्रों के अर्थों में पार्थक्य क्या है, इसके उत्तर में तो यही कहना है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि रूप से मन्त्रार्थ भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

पारिजातकृता यदुक्तम् "वस्तुतस्तु निर्वचनं व्याख्यानमेव भवति"। इति तु कपोल-कल्पितमेव, नैव निर्वचनशब्दस्य व्याख्यानार्थ एव, यतोहि प्रतिशब्दस्य निर्वचनं व्याख्याननिश्चयाय भवति न तु व्याख्यानं क्वचिन्निर्वचननिश्चयाय, वेदानां व्याख्यानानि हि ब्राह्मणानि न तु तानि निर्वचनानि कथ्यन्ते, निर्वचनंहि व्याख्यानस्याङ्गम्, न तु इतरत्तस्य।

न च मन्त्रा निरर्थकाः, मन्त्राः मननादित्यस्याप्यर्थे एवैष ध्वनिः न तु शब्दे, ऋष्यर्थपुष्टिस्तु शब्दकल्पद्रुमोद्धरणेनापि भवति, "यथा शब्दलक्षणपरिज्ञानम् सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात्, एवं शब्दार्थनिर्वचन-परिज्ञानं निरुक्तात्। न चानिरुक्तो मन्त्रार्थो व्याख्यातव्यः, (एतस्यायं भावो यत्पूर्वं निर्वक्तव्यम् पश्चाद् व्याख्यातव्यम्) तस्मादर्थपरिज्ञानाभिनिवेशादिदमेव निरुक्तं प्रधानम्।"

अतो वक्तव्यम् यन्मन्त्रार्थो निश्चयेन वक्तव्य इति।

(पृ० ६८६) आ०—'न च विद्वांसो देवा अविद्वांसो मनुष्या इति वाच्यम्, अविद्वत्सु तर्कस्यासम्भवात्"

पारिजात कर्ता का यह कथन है कि वास्तव में निर्वचन ही व्याख्यान होता है कपोल-कल्पित ही है क्योंकि निर्वचन शब्द का 'व्याख्यान' अर्थ ही नहीं है प्रत्येक शब्द का निर्वचन व्याख्यान निश्चय के लिए किया जाता है कहीं व्याख्यान निर्वचन निश्चय के लिये नहीं होता, वेदों के व्याख्यान ब्राह्मण हैं वे निर्वचन मात्र नहीं कहे जा सकते। निर्वचन व्याख्यान का अङ्ग होता है न कि व्याख्यान निर्वचन का। मन्त्र निरर्थक नहीं होते, मनन करने से ही मन्त्र मन्त्र कहाता है इसके भी अर्थ में यह ध्वनि है न कि शब्द में। ऋषि के अर्थ की पुष्टि में शब्द कल्प द्रुम का यह उद्धरण देखिये "जैसे शब्द-लक्षण परिज्ञान सब शास्त्रों में व्याकरण से होता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त से होताहै, अनिरुक्तमन्त्रार्थ व्याख्यतव्य नहीं होता। (इसका भाव यह है प्रथम निर्वचन किया जाये फिर व्याख्या करनी चाहिये)

इसलिये अर्थ-परिज्ञान के अभिनिवेश से यही 'निरुक्त' प्रधान है, अतः यही करना चाहिये कि मन्त्रार्थ भी निर्वक्तव्य होता है

पृ० ६८६ आ०—'विद्वान् (मनुष्य) देव होते हैं और अविद्वान् मनुष्य

समा०—रूढि-निगडितधिया न सम्यगाकलयितुं भवान् प्रवर्त्तते, यदुच्यते 'अविद्वत्सु तर्कस्यासम्भवादिति, तदनुभवादसाधु।

किमेतस्यायमर्थो यद् विद्वत्सु तर्क एव भवति, तदा कथं भवान् कुतर्कपरः प्रतिपदम्? मनुष्योऽपि 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' इति मननशीलत्वात्कथं न तर्कशीलो भवितुमर्हेत्? अतोऽत्र देवर्षि-मनुष्याणां कोटय एव वर्णिताः, तपश्चरणैश्वर्यादिभेदात् विदुषां देवत्वं तु शास्त्रीयमेव। तेभ्यः तर्कं प्रायच्छन्' इत्यनेनापि मनुष्याणाम् तर्कशीलता द्योत्यते।

(पू० प०) यदुक्तं 'कारणस्थैः प्राणैर्गुणवर्णनस्तुत्यसंभवः इति, तद ज्ञानम्, योगाभ्यासेन कार्यगत-प्राणव्यष्टीनाम् जगत्कारणीभूत-प्रकृति-प्राणसमष्ट्या सहैक्य-संबन्ध-स्थापन-पूर्वकमीश्वर-वर्णन-स्तुतेः 'पश्यन्ती' वाण्यां साधकेनात्र सर्वथा-संभवात्।

इति देवता स्वरूप निरूपणम्।

होते हैं। यह बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि अविद्वानों में तर्क का अभाव होता है।

समा०— आप रुढि के द्वारा निगडित बुद्धि होने के कारण इसका ठीक आकलन नहीं कर सके जो कि आप यह कह रहे है कि अविद्वानों में तर्क होना सम्भव नहीं। क्या इसका अर्थ यह है कि विद्वानों अर्थात् अधीत पुस्तकों में सुतर्क ही होगा, तो आप प्रतिपद कुतर्क क्यों करते हैं। मनुष्य भी मनन करके काम को करता है फिर तर्क-शील क्यों नहीं हो सकता।

अतः यहां पर देवता, और मनुष्य यह मनुष्य शरीर धारियों की ही कोटियाँ हैं, जो कि तपश्चर्या, ऐश्वर्य आदि भेदों के कारण हैं। विद्वानों का देवत्व तो शास्त्रानुमत है। इससे भी मनुष्यों की तर्क शीलता द्योतित हो रही है।

पू० प०— 'पूर्व काल में अवस्थित कारण रूप प्राण से परमेश्वर की स्तुति करना चाहिये।,, भूमिका कार का यह कथन असंगत है।

(उ.प.) आपका यह आक्षेप अज्ञान जनित है, क्योंकि योगाभ्यास के द्वारा कार्यगत प्राणों की व्यष्टियों का जगत के कारण भूत प्रकृति-प्राणों की समष्टि के साथ ऐक्य सम्बन्ध के स्थापन पूर्वक ईश्वर वर्णन स्तुति की 'पश्यन्ती' वाणी में साधक के द्वारा सर्वथा संभावना है। "इति देवता स्वरूप निरूपण"

छन्दोमन्त्रयो-रेकत्वम्

(पृ० ६८८ पंक्ति २,) आक्षेप :—"तदपि न किञ्चित् वेदेतर-ग्रन्थेषु व्यभिचारात्। धर्मार्थकाम-मोक्ष-शास्त्रेषु पौरुषेयेष्वपि गुप्तानाम् पदार्थानाम् भाषणात्। प्रत्यक्षानुमानेष्वपि सत्यपदार्थ-वेदकत्वाच्च।

समा०—दुर्गाचार्य-टीकायां न्यासीकृता मतिः स्वतन्त्रतया याथार्थ्योहने कुण्ठिता तत्त्वमवगाहितुं न कदापि क्षमते। प्रकृते तु छन्दोमन्त्रादीनाम् धातुमूलका अर्थाः प्रत्यपाद्यन्त, नहि दोषत्रय-शून्यलक्षणस्य विधेयताऽत्र विवक्षिता, अनावश्यकत्वात्। तदिहोच्यते यथाहि कश्चिद् वदेत् "ईश्वरः सुखदायकः" इदमपि भवद् बालबुद्धया

छन्द और मन्त्रों का एकत्व

पृ० ६८८ पं० २, "गुप्त पदार्थों का भाषण जिसमें है वह वेदमन्त्र कहलाता है, उसके अनेकार्थक अवयव भी मन्त्र कहलाते हैं। 'मन ज्ञाने' इस धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होने पर मन्त्र पद निष्पन्न होता है।, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण तो वेद से भिन्न शास्त्रों में भी मिल जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक पौरुषेय शास्त्रों में भी गुप्त पदार्थों की व्याख्या की गई है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी सत्य पदार्थों की अवगति होती है।

समा०—दुर्गाचार्य की टीका में गिरवी रक्खी आपकी मति स्वतन्त्रता से यथार्थ के ऊहन में कुंठित हो रही है, जो तत्व का अवगाहन करने में कदापि समर्थ नहीं है। प्रकृत में छन्द तथा मन्त्र के धातु-मूलक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। दोषत्रय शून्य लक्षण की विधेयता यहां विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह यहां अनावश्यक है। अतः यहां कहा जाता है' जैसे कोई कहे 'ईश्वर सुख देने वाला है, यह कथन भी आपकी बाल-बुद्धि के अनुसार व्यभिचरित (दूषित) हो जायेगा, क्योंकि आप इस कथन को भी ईश्वर का लक्षण मान

व्यभिचरितं स्यात्, भवतोऽन्धभक्तसेवकैरपि सुखदातृत्वात्। नहि कश्चिद्गच्छतीति गौरित्यात्मकं गोलक्षणं मनुते। मते चेदिहाऽपि भवति व्यभिचारस्योद्गमनसम्भवात्, अन्यच्च "प्रत्यक्षानुमानेषु" इत्यत्र बहुवचनप्रयोगोऽपि भवतः प्रामादिकः।

अतो लक्षणस्य लक्ष्यतास्थले एव दोषत्रयशून्यत्वमपेक्ष्यते। इह उपरिनिर्दिष्टधातुभिरेव छन्द आदीनाम् शब्दानाम् निष्पत्तिरुक्ता न तु लक्षणं विहितमित्यशेषत्वेन शुचिशेमुषीवद्भिः समुन्नेयम्।

"छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति," एतस्य इदमेव तात्पर्यमिह यदेन्यप्रकरणे छन्दः-शब्दस्य नान्यार्थाः सम्भवन्तीति न क्वापि स्वामिना प्रोक्तम्। अन्यत्र प्रकरणानुसारं तदर्थस्य तथा-गृहीतत्वात्। अतः संस्कृतज्ञानशून्यस्वान्धभक्तानां चक्षुषोर्धूलि-प्रक्षेपस्तु भवतैव क्रियते न स्वामिना।

बैठेंगे, आपके अन्धभक्त सेवकों द्वारा भी आपको सुख देने के कारण वे भी सुखदायक हैं और इसी प्रकार 'जो जाता है, वह गौ है' इसे भी लक्षण मानने पर आपमें भी चलने फिरने के कारण गच्छतीतिगौ लक्षण घटित होने लगेगा।

'प्रत्यक्षानुमानेषु' इसमें बहुवचन का प्रयोग भी प्रमाद-जन्य है। अतः लक्षण की लक्षिता जहाँ पर हो वहीं पर दोषत्रय शून्यता वाले लक्षण की अपेक्षा होगी। यहाँ पर उपर्युक्त धातुओं के द्वारा छन्द आदि शब्दों की सिद्धि बताई गई है। लक्षण नहीं किया गया है। यह सब बुद्धिमान् लोग समझ लेंगे।

छन्द मन्त्र और निगम यहां पर्यायवाची हैं इसका यहां यही तात्पर्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्य प्रकरण में छन्दः शब्द के अन्य अर्थ संभव नहीं होते अन्यत्र प्रकरण के अनुसार अर्थ गृहीत होंगे अतः संस्कृतज्ञान शून्य अपने अन्ध भक्तों की आंखों में आप द्वारा ही धूल झोंकी जा रही है न कि स्वामी जी के द्वारा।

यहां पर छन्दः शब्द के बहुत से अर्थ हैं, यह कहते हुये लेखक सामान्य छल से व्यवहार कर रहा है जिसका लक्षण (न्या० १। २। १३) में है कि संभव अर्थ के अति सामान्य होने से असंभवार्थ कल्पना करना सामान्य छल है (वात्स्या० भा०) के अनुसार जैसे इस खेत में धान संभव हैं, यह वाक्य केवल

अत्र 'छन्दः पदस्य अर्थवाहुल्यमिति कथयन्नयम् सामान्यच्छलेन व्यवहरति' तच्च 'सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्'' (न्या० १।२।१३) इत्यत्र वात्स्यायनभाष्यं यथा ''संभवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति ।' अनिराकृतमविवक्षितं वीजजन्म, सोऽयं क्षेत्रानुवादो 'नास्मिन् शालयो विधीयन्ते' इति, वीजात्तु शालिनिर्वृत्तिःसती न विवक्षिता ।'' तथा च छन्दः पदं मन्त्रार्थकमिह, नान्यत्र अन्यार्थनिराकरणं विवक्षितमेतेन स्वामिना ।

स्वामिदयानन्देन 'मन्त्रे घसह्वरणश्' (अष्टा २।४।८०) 'छन्दसि लुङ्लङ् लिटः' (अष्टा० ३।४।६), 'वा सपूर्वस्य निगमे (अष्टा० ६।४।६) इति सूत्राण्युदाहृत्य मन्त्रच्छन्दोनिगमशब्दानां पर्य्यायत्वं दर्शितम् । वैयाकरणा एवास्य महोदयस्य व्याकरणज्ञानं छलं च वीक्षन्ताम् यदयं 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ—(अष्टा० ३।२।७१) अस्मात् सूत्रान् मन्त्रपदानुवृत्तौ सम्भावितायां 'विजुपेछन्दसि' (३।२।७३ अष्टा०) इत्यत्र छन्दसीति पाठेन छन्दः शब्दो न मन्त्रार्थकः इति सिसाधयिषति, छन्दोग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

क्षेत्र रूप विषय की प्रशंसा का बोधन करने के लिये कहा जाता है, क्षेत्र ही शालियों का उपादान कारण है इस अभिप्राय से नहीं; क्योंकि शालियों की उत्पत्ति अपने बीज से होती है खेत से नहीं । क्षेत्र केवल सहकारी कारण से प्रशंसित किया गया है ।

वैसे ही यहाँ 'छन्द पद मन्त्रार्थक है । अन्यार्थ का अत्यन्त निराकरण वहाँ स्वामी जी द्वारा विवक्षित नहीं है ।

स्वामी दयानन्द ने 'मन्त्रे घस्—'छन्दसि लुङ् लङ्लिटः' तथा 'वा षपूर्वस्य निगमे' इन सूत्रों के उदाहरण देकर मन्त्र छन्द-और निगम शब्दों का पर्यायवाचित्व सिद्ध किया है वैयाकरण लोग करपात्री जी महाराज का व्याकरण ज्ञान और छल दोनों को यहाँ देखें । ये कहते हैं कि 'मन्त्रे श्वेत० इस सूत्र से मन्त्र पद की अनुवृत्ति संभावित थी, फिर मन्त्र के छन्द. पर्यायवाची होने पर तो 'विजुपे छन्दसि' इस सूत्र में छन्दसि नहीं पढ़ना चाहिये था, परन्तु पढ़े जाने से छन्दः शब्द मन्त्रार्थक नहीं है, यह सिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा छन्द शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा ।

परं भोः यदा हि छन्दःपदं मन्त्रब्राह्मणगायत्र्याद्यर्थकम् अस्ति तदा सङ्गतमेतत् ऋषि-कथनम् । सत्यं हि 'आम्रान्पृष्टः कोविदारान् आचष्टे इति लोकोक्त्यनुसारं इह ऋषेः कथनाशयस्तु अस्ति यदस्मिन् प्रकरणे मन्त्रस्य छन्दः पर्यायत्वमस्ति न तु सर्वत्र, परं भवान् अन्यथैव एतस्याशयं बोधयति ।

''किञ्च ''विजुपे छन्दसि'' इह छन्दोग्रहणं तु ब्राह्मणसंग्रहार्थम् । तथा च सिद्धान्तकोमुद्याष्टीकायामपि ''ननु छन्दसीति व्यर्थम्, 'मन्त्र' इत्यनुवृत्तेरेव भाषायां न भविष्यतीति चेत्, 'सत्यम्, ब्राह्मणसंग्रहार्थम् छन्दोग्रहणम् ।'' एतेनापि सिद्ध एव छन्दसः मन्त्रपर्यायत्वे ऋषि-कथनं सर्वथा संगच्छते । अतो मन्त्रव्यतिरिक्तं ब्राह्मणमित्यपि सिद्धम् किञ्च छन्दसि लुङ् लङ् लिटः'' 'वाष पूर्वस्य निगमे' इत्यनयोः सूत्रयोर्मन्त्रार्थे एव छन्दोनिगमपदे नैव स्तः ? स्त एवेति । तस्मादेतत् भवत्कथनमबुद्धिपूर्वकमेव । इत्यलमित्यतिविस्तरेणेह ।

शिष्टं शिष्टैः समुन्नेयं, विशिष्टं तु समाहितम् ।
दयानन्दर्षिबोधेन विशुद्धानन्दशर्मणा ॥ १ ॥

महोदय ! जब कि छन्दःपद मन्त्र, ब्राह्मण और गायत्री आदि अर्थ वाला है अतः ऋषि कथन सर्वथा सङ्गत है । सच है, ''पूछे आम, कहे कचनार'' यहाँ ऋषि कथन का आशय तो यह है कि इस प्रकरण में छन्द शब्द मन्त्र का पर्यायवाची है न कि सर्वत्र, परन्तु आप कुछ और ही आशय निकालते हैं ।

तथा च ''विजुपे छन्दसि'' सूत्र में छन्दोग्रहण तो ब्राह्मण अर्थ के संग्रह के लिये है, जैसा कि सिद्धान्त कौमुदी की तत्वबोधिनी टीका में भी लिखा है कि छन्दः पद यहाँ व्यर्थ है, क्योंकि 'मन्त्र की अनुवृत्ति आ जायेगी, तो भाषा में नहीं होगा, पर इसका ग्रहण तो ब्राह्मणार्थ संग्रह के लिए है, । इससे छन्दः शब्द के मन्त्रपर्यायक होने से ऋषि-कथन सर्वथा सङ्गत है । अतः यह भी सिद्ध है कि ब्राह्मण मन्त्र से व्यतिरिक्त हैं । क्या 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' और 'वाषपूर्वस्य निगमें' इन सूत्रों में छन्दः और निगम पद मन्त्रार्थक नहीं हैं ? अवश्य हैं । इसलिये आपका यह कथन अबुद्धिपूर्वक ही है इस विषय में अब विस्तार नहीं किया जायेगा।

विशुद्ध-आनन्द और कल्याणकारक, महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित ज्ञान से

विद्वांसोऽमलमानसा गुणगणाग्राहैक-पक्षा मुदा, ।
सन्द्रक्ष्यन्ति विमत्सराः प्रणयिनः स्तोष्यन्ति वा मे श्रमम्, ।।
यास्याम्येव कृतार्थताम् ऋषि दयानन्दस्य राद्धान्तकान् ।
पुष्णंश्चेदिह कश्चिदाकलयतामालोचनां मत्सरी ।।२।।
आदित्यो ब्रह्मचारी भुवन भविककृन्निष्कलङ्को महात्मा ।
'कृण्वन्तो विश्वमार्यं, श्रुतिविहितसमादेशनं विश्वविश्वे ।।
शश्वत् संरक्षितु यः कृतभुवनजयः श्री दयानन्दयोगी ।
सिद्धान्ता वाऽपि तस्याऽऽप्रलयमिह सदा सत्यवन्तो जयन्ताम् ।।३।।
निर्मलां[1] वृत्तिमाधाय, पाठकानां निरन्तरम् ।
'मृदुला'[2] 'मञ्जुला'[3] 'मेधा'[4] जायतां 'वेद'[5] वत्सला'[6] ।४।
इति श्रीमद् विहारीलालशास्त्रि-शिष्य
श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते
करपात्रिमत-खण्डने दयानन्दमत-मण्डने
वेदार्थ-कल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेद-विषय-विचारः सम्पूर्णः ।

ही विशिष्ट (आक्षेपों) का समाधान कर दिया गया, शेष शिष्ट जनों द्वारा स्वयं समाहित कर लेना चाहिये ।१।

गुण-गण ग्रहण करने में एक मात्र पक्षपाती, निर्मलमन मत्सर-रहित, प्रणयी विद्वज्जन मेरे इस श्रम को प्रसन्नता से देखेंगे और प्रशंसा करेंगे ।

मैं ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों की पुष्टि करता हुआ इस प्रकार कृतार्थ हो जाऊँगा । फिर चाहे कोई मत्सरी आलोचना भी क्यों न करे ।२।

आदित्य ब्रह्मचारी, संसार का कल्याण करने वाले, निष्कलङ्क महात्मा जिन ऋषि दयानन्द ने सम्पूर्ण विश्व में "सबको आर्य बनाओ" के श्रुति विहित आदेश की रक्षा करने के लिये शास्त्रार्थ द्वारा दिग्विजय किया था, उनके सत्य सिद्धान्त प्रलय पर्यन्त जयशील होवें ।३।

निर्मला वृत्ति का आश्रय करके इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वालों की मृदुल और मंजुल मेधा (बुद्धि) निरन्तर वेदों से प्रेम करने वाली होवे ।४।

श्रीमान् विहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित श्रीकरपात्रीकृत वेदार्थ-पारिजात-गत दयानन्दीयमत-खण्डन का खण्डक दयानन्दमत मण्डक वेदार्थ कल्पद्रुम का वेद विषय विचार सम्पूर्ण हुआ । ☐

---

१ पत्नी २, ३,४ पुत्रियां ५,६ पुत्रद्वय

वेदार्थ-कल्पद्रुम-शुद्धिपत्रम्

पूर्व-भागे

पृ०	प०	अशु०	शु०
७	२१	करक	करके
१०	१७	वता	वतां
	३०	बिहारी	विहारी
११	३२	,,	,,
	१५	पूवक	पूर्वक
१२	१	वदार्थ	वेदार्थ
	४	नाम्रा	नाम्नो
	६	श्रति	श्रुति

प्राक्वाक्

पृ०	प०	अशु०	शु०
१४	३	छल	च्छल
	६	र्दपि	दर्षि
	१३	रतम्	रितम्
	१५	छन्दः	च्छन्दः

प्रास्तावनिकम्

पृ०	प०	अशु०	शु०
१८	४	मासकतिपय	कतिपयमास
	४	दृग्	दृक्
	८	रत	रतं
	१५	भोज्य	प्राज्य
१९	१२	गच्छ	गच्छे
	१६	वाध्य	वोध्य
२०	२६	रण्ये	रण्य
	,,	द्	त्
२१	१२	यर्व	र्यवं

पृ०	प०	अशु०	शु०
	१६	रीण	रीणो
२३	३	शंन्ति	शंयन्ति
		परय	पर
	१७	र्ती	ती
२४	३	शङ्कक	शङ्क
२५	२०	ण	णं
	२४	दया	दंया
२६	१२	समथक	समर्थक
३०	७	कम,मत्र	कर्म, मन्त्र
	१४	सामश्री	सामश्रमी
	१८	अमाग्नाते	अनाम्नाते
३१	२	शिष्यु	शिष्य
	१५	प्रणता	प्रणेता
	२६	वनाशिक	वैनाशिक
३२	१४	मायावादही।	मायावाद ही-
३३	३१	विद्वान	विद्वान्

वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचनम्

पृ०	प०	अशु०	शु०
४३	३	मिपि	मिति
	२०	ऋृग्	ऋग्
४५	२	रछि	रञ्छि
	३	वस्य	वास्य
	५	मस्य	म्
	१६	रस्या	रस्य

पृ०	प०	अशु०	शु०
	२३	कूमाण्ड	कूष्माण्ड
४६	१९	जान	जानन्
४७	७	बच्	वच्
	१३	षद्	षत्
	२२	॥	।
	२७	पंचमं	पञ्चमं
४८	११	वद्	वत्
	१९	निदशा	निर्देशा
४९	३	श्रम	श्रमः
	७	र	रः
५०	१	निवचन	निर्वचन
	१४	संगतः	सङ्गतः
	१५	पमा	परमः
	२२	मन्त्राथ	मन्त्रार्थं
५१	९	स्ब, णनु	स्व, णानु
	१४	घन	घान
	१८	नांकः	नाङ्कः
५३	२	रापण	रोपण
	५	उब्बट	उव्वट
	८	उद्घत	उद्घृत
	१०	निकलते	निकालते
५४	१२	पृथक	पृथक्
५५	१७	सवथा	सर्वथा
१६	२३	चके	चक्रे
६०	८	वैशिष्टय	वैशिष्ट्य
६२	६	वेदा	वेदो
	१२	परम्	पदम्
	२४	स्यपि	स्यापि
६३	१	मस्वो	सत्त्वो
	१४	नान्तरं	नानन्तरं

पृ०	प०	अशु०	शु०
६४	१२	तहि	तर्हि

शेषभागस्याऽग्रेऽस्ति

उत्तर-भागे शुद्धि-पत्रम्

पृ०	प०	अशु०	शु०
१	१२	ते	ति
३	१०	दिबा	दिवा
४	१२	सद्ब	सद्बै
५	७	ह्यदर	ह्युदर
	११	मष्ति	मस्ति
	१४	याडि:घ्र	याङ्घ्रि
७	११	शक्त	शक्तः
९	१०	तरो	तरोः
१०	१३	म्यृतु	म्यतु
१२	३	ह्याद	ह्युद
	४	दिबान्ध	दिवान्धः
१६	४	बिमु	विमु
	७	पात्रक	पात्रकं
१३	९	तावद	तावद्
	१०	सम्मतै	सम्भृतेः
	३	वति	ततीर्
१४	७	सवदा	सर्वदा
	११	आय	आर्य
	२६	६०	७०
१५	३	पाण्डत्य	पाण्डित्य
	५	ग्रंथ	ग्रन्थ
	१७	भाषां	भाष्यां
१६	१०	जष्टं	जुष्टम्
१८	१०	भमिका	भूमिका
१९	१	रक्त	रिक्त
२०	५	न्यसितुम्	न्यस्तुम्
	८	विवचन	विवेचन

पृ०	प०	अशु०	शु०
	१०	त्रिशा	त्रिंशा
२२	४	लिङ्ग	लिङ्गं
२७	५	प्रामाऽण्या,	प्रामाण्या
	१७	सवैम	सवैमं
२८	३	प्रयागाद्	प्रयोगाद्
२९	३	सर्वैर्वै	सर्वै
३१	४	साथ	सार्थं
	१०	छन्द	च्छन्द
३२	१	समम्	समाम्
३२	७	सगच्छ	संगच्छ
	११	तार्यैस	तोर्यैस
	१३	द्यातना	द्योतना
३४	११	वत्व	वत्त्व
३५	३	चैतद	चैतद्
	१४	घृष्टं	घृष्टम्
३६	३	व्रिष्णु	विष्णु
३७	९	रहित	रहितं
	११	पृथिव्या	पृथिव्यां
३९	३	श्रयते	श्रूयते
	८	शेऽथ	शेऽर्थे
४०	१०	न्नार्थे	न्नर्थे
	१८	स्वयमेव	स्व
४१	३	मप	मपि
४४	१०	जड़	जड
	११	दाषो	दोषां
४५	२	जाताय	जातीय
४६	३	कारणा	कारण
४७	१४	संभव	सम्भवो
४८	१४	भांति	भासित
४९	२	सिद्धान्तान्	सिद्धान्तं

पृ०	प०	अशु०	शु०
५०	१२	नः	न
५२	६	वेदस	वेदसः
५४	५	पत्ति	पत्तिं
	६	णाना	णानां
	११	मिधात	भिधात
५७	१	मत्वे	मत्त्वे
	७	वद	वद्
५९	१२	माण्य	माण्यं
६०	८	गुणा	गुण
	१०	पेतव	पेतैव
६२	३	व्याकरणा	व्याकरण
	६	साधित	साधितं
६५	१२	नन	नून
६१	१२	यत्त	यत्ते
६७	५	ब्रह्मत्म	ब्रह्मात्म
	८	दषः	दर्षः
	२४	कारणों से	+ रहित
६९	३	रोपालम्भः	रोपलम्भः
७४	५	न विद्वान्	विद्वान्
	६	शब्दो	शब्दयो
	८	धये	धेय
	१०	विद्वांत्सो	विद्वांसो
७८	३	मद	मत्व
		कत्तरि	कर्त्तरि
७९	३	स्थौल्यामा	स्थौल्यापा
	४	बादि	वादि
८३	९	घातात	घातात्
८९	१०	ह्यपनि	ह्युपनि
९०	१	गोचरा	×
९१	७	नैमित्तक	नैमित्तिक

पृ०	पं०	अशु०	शु०
६२	८	ईश्वरस्या	ईश्वरस्य
६४	१०	तति	ततीः
६६	८	प्रतबद्ध	प्रनुबद्ध
६७	१	मषोणां	मृषीणाम्
१००	५	हायत्वम्	हार्यत्वम्
१०३	५	चेत	चेत्
१०४	६	कर्त्त	कर्त्तृ
१०५	८	प्रमाणे	प्रमाणैः
१०८	६	तमायां	इयां
११०	८	तद्व	तद
११३	४	ध्यतपत्	स्यतपत्
११५	१२	प्रपश	प्रेषण
११८	१३	रूपसर्गे	रुपसर्ग
१२०	१४	दूडयन्ति	द्रढयन्ति
	१५	में	मे
१२१	१५	सिद्धान्त	सिद्धान्तः
१२२	६	छाया	च्छाया
१२३	७	चात्तर	चोत्तर
१२४	४	संक	सङ्
१२६	३	गप्पग्म	गप्पा
	१२	प्रेकाशे	प्रकाशे
	१४	पिता	पितृ
१२७	६८	द्रष्ट्रि	द्रष्टृ
	६	भास्वा	आश्व
१२८	१४	श्रृण्वत्	शृण्वत्
१३२	२	किमर्थ	किमर्था
	६	नाद्य	ज्नाद्य
१३५	४	जानीति	जानाती
१३८	६	वृक	दृक्
१४०	४	नुपति	नुपपत्ति

पृ०	पं०	अशु०	शु०
	१२	नर्थस्य	नर्थक्य
१४१	३	वेम्या	वेश्य
	७	दृम्यः	दृश्यः
१४२	५	तु, अर्हन्ति ×	अर्हन्तिस्म
	१०	यजेम, सङ्ग	यजेत, सङ्ग
१४३	३	ऋत्विक	ऋत्विक्
१४४	२	समेत्यू	समेत्यो
	३	पितृन्	पितृन्
	१०	निमूलंव	निर्मूलंव
	११	जड्पाखाण	जडपाषाण
१४६	५	पारोणि	पौराणि
१४८	१०	विस्तार	विस्तर
१५४	२	णत्वं	णत्वम्
१५७	७	निर्कवै	निर्कैवै
१६४	४	तक	तर्के
१६५	१३	निधस्त	निधनस्व
१६६	१२	दुर्भा	दुर्भाव
१७१	१	तति	ततीः
१७२	१४	सधिका	साधिका
१७८	६	दवस्यैव	दवरस्यैव
१८०	८	संव्या	संख्या
१८२	३	र्णीता	र्णीत
१८५	२	श्रणात्	श्रयणात्
१८६	७	जाङ्कर	जाङ्कुर
१८८	१	भिष्यते	मिष्यते
	४	अह, नामह,	भट्ट, महः
१८९	५	गणाना	गणना
	१४	सृस्द्	सृष्ट्
१९०	३	सृष्टे	सृष्टेः
	५	तेष	तेषु

पृ०	पं०	अशु०	शु०
	१०	चावी	यावी
१९१	२	संज्ञतमर्थ	सङ्गतमर्थं
१९२	१०	खण्ड	खण्ड
१९५	६	भो	भोः
१९६	१०	गुणा	गुण
१९७	६	द्वय	द्वय
	११	चादि	चावि
१९८	५	भिन्ज	भिव्यञ्ज
१९९	४	ग्रते	गृहे
२००	१३	देवम	देवम्
२०१	३	वद	वद्
२०५	१	रूपेता	रुपेता
	१३	भिक्षाज्नस्य	भिक्षाटनस्य
२०७	६	करणनां	करणानां
२१०	५	नोत्क्षेणा	नोत्क्षेपणा
	६	बाघ	बाधि
२१४	२	शङ्कुस्य	शङ्कुरस्य
	५	ह्रास	ह्रास
२१६	६	नक्ष्य	नक्ष्य
२१७	६	पाठ	पाठः
२१७	१६	कमैव	कर्मैव
२२२	६	यादि	यादि
	१०	मघेयं,	मवधेयं
२२३	१	वृद्ध	वृद्धि
२२४	३	षतस्य	पयस्य
२२७	६	घातक	घातुक
२२८	१२	तन्निष्ठा	तन्निष्ठ
२३०	१०	चणम	चणम्
२३१	१५	कारणे	करणे
२३२	३२	सप्त	सप्त

पृ०	पं०	अशु०	शु०
२३३	३	मेवभि	मेवाभि
२३४	४	चांत्र	चात्र
	६	युङ्क्ते	युङ्क्ते
२३६	२६	अप,सह	अपे शब्द
२३७	२६	प्रामाण्यं	प्रामाण्यं
२३८	१०	तिभं	तिभ
	१२	प्रथा	प्रथा
२४१	२	मस्व	मस्त्व
२४२	८	पौरु	पौरु
२४४	८	मन्वस्त	मन्वन्त
	११	नाम्न	नाम्ना
	१२	लेखा	लेख
२४८	१	यितुं	यितुम्
२५१	३	वक्ष्य	वक्ष्य
२५२	७	विषेय	विषय
२५३	११	जुहाते	जुहोत
२५४	५	मंत्रा	मन्त्रा
२५६	११	त्यत्त्वात्	स्यत्वात्
२५७	२	मदो	मदस्
	५	प्रामाण्या	प्रामाण्य
२५८	३	युक्तोदध,	युक्तानुद्ध
२५९	७	दुक्तो	दुक्तौ
	१२	दोषा	दोषो
२६०	३	इत्यक्त	इत्युक्त
	४	मात	मातृ
	१५	पुर्वेषा	पूर्वेषा
२६१	१	माद्रे	माद्रे
	४	स्वामी	स्वामि
२६४	५	तदस्त	तदनन्त
	११	वृत्यै	वृत्त्यै

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
२६५	१	वेदं	वेदम्	३०७	१	मत्वा	मत्त्वा
	६	र्णोष	र्णोषु		१२	तस्य:	तस्याः
२६६	१	पौरू	पौरु	३०९	५	चोक्त	चोक्तं
	७	त्यत्त्व	त्यत्व		९	युज्जा	युञ्जा
	१०	णाति	पेति	३११	३	दात	दान्त
२६७	११	पुपुष	पुरुष		१५	महर्षे	महर्षेः
२७१	८	सूर्यादिः	सूर्यादिरिव	३१३	४	कृत	वृत्त
२७२	२	बोद्धा	बौद्धा		१२	तद	तद्
२७५	८	त्वात	त्वात्	३१५	६	श्रोम	श्रोम्
२७८	२	क्तः	क्तस्तम्	३१६	११	सम्भावाच्च	सम्भवाच्च
	१३	बिवा	विवा	३१७	४	ज्ञ	ज्ञं
२८३	७	सभिन्न	भिन्न		६	न्यते	न्यन्ते
२८४	१६	श्रते	श्रुते		८	दयो	दयः
२८६	९	नत्त्वा	नत्वा		१०	स्यपि	स्यापि
२८७	२	यत	यत्	३१८	७	दुःखं	दुःखात्
२८८	४	कत्त्व	कत्वे	३१९	१२	यंत	यंते
	४	स्यात	स्यात्	३२०	७	श्रुते	श्नुते
२८९	९	कुवन्	कुर्वन्	३२१	७	वान	वान्
	१४	पांडित्य	पाण्डित्य		१३	णे	णो
२९०	११	मंत्र	मन्त्र	३२२	७	ति	तिं
२९८	५	मत्वम	मत्वम्		१७	क	के
२९९	१४	द्रुमे	द्रुम	३२३	१	न्वे	न्वि
३०१	१७	संवत	संवत्		५	कत	कतः
३०२	१५	सा	सायणा		३	ताया	तायाः
	१६	हानि	हानिः	३२४	८	दुखं	दुःखं
	१८	शब्दस्य	शब्दे	३२८	५	यं	यँ
३०३	१७	त्वाम्	त्वात्	३२९	३	सर्वे	सर्वैं
३०४	८	मोक्ष	मोक्षे	३३२	७	दृष्टैं	दृष्टैंव
३०७	४	यागो	योगो	३३४	१४	कृती	कृतेस्
	१२	धी।	धीः	३३५	२	चाच्य	चोच्य

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
३३६	३	लु	नु	३७३	८	लणं	लक्षणं
	१०	वनस्य	वस्य	३७४	१२	मद्	मत्
	१३	उनस	उनसे	३७५	२	मह	महं
३३८	९	सस्था	संस्था		५	उद्दृङ्क	शङ्क
३४०	२	बुध	बोध		९	नवा ?	मन्यते नवा ?
३४१	८	तञ	तज्		१२	तर्कै	तर्कें
३४२	५	कष	कर्ष		१८	(५५२),	(५५३)
३४३	१३	भो	भोः	३७६	२	कारं	कारस्य
३४५	९	४४	५४		३	नमा	ना
३४६	१	चकि	किं		५	कनो	किनो
	७	या	याः		१६	ष्टु	ष्टुं
३४९	८	त्तय	त्तयं	३७८	४	प्रात	प्राप्त
३५०	३	ल्के	क्ले		१५	भुं	भुः
	१०	पूव	पूर्व	३७९	५	समा	सामा
३५१	८	मलं	मूलं		१०	त्व	त्व
३५२	५	पूव	पूर्वं	३८०	८	दृष्टव्यं	द्रष्टव्यं
	१२	चार	चर	३८१	४	नुध्य	नुरुध्य
३५४	५	ताऽय	तोऽयं	३८२	५	कृटो	कुष्टो
	८	दश	देश	३८३	१२	पाडि	पाण्डि
३५६	९	पक्रा	पक्रमा	३८४	३	नां	ना
३५८	६	नां	नाम्		९	रूक्	रुक्
	१०	तूं	तुं	३८५	१	ढ़ि	ढि
	१४	ता:	ता		९	स्याद	स्योद
३६२	१२	तद	तद्	३८६	४	क्षर	क्षरं
३६३	१२	त्या	त्य		१६	स्यत्	स्यात्
३६५	१३	वे	बो	३९१	८	बि	वि
	१४	ण	णा	३९३	५	,,	,,
३६९	१	भय	ह्य		११	येतुं	यितुं
३७०	४	के	चे	३९४	१०	धेय	धेयं
३७१	१४	भिषे	भिलषे	३९६	२	प्रवत्त	प्रवर्त्तं

पृ०	पं०	अशु०	शु०	पृ०	पं०	अशु०	शु०
	८	घ	घे:	४२०	८	वि	वि
३९८	२	ज्ञान	ज्ञाना		१५	गुग्लु	गुग्गुलु
३९९	१०	पय	पयं		१७	नाप्य	नाय्य
४००	७	माजा	माना	४२१	५	घाषं	घोषं
	११	मट्ट:	भट्ट:	४२३	८	तुमति	तुमंति
४०२	१	अप	प	४२४	१	शो	श
	१२	वत्वा	वत्त्वा	४२६	१४	वतां	वता
४०३	३	दया	दमा	४२७	२	महत्येव	महंत्येव
	३	तत्व	तत्त्व	४२९	१	य:	य
	१३	दुखा	दुःखा	४३०	१३	श्रृ	श्रु
४०५	२	रावृता	रावृत्ता	४३१	१२	लोकाप	लोकोप
४१०	१	चिद	चिद्	४३२	११	थता	थंता
	६	मास	मांसे		१३	त्यथ:	त्यथं:
	८	द्व	द्वे	४३३	१३	लाके	लोके
४११	३	गणा	गणा	४३५	१०	कत्व	कत्वं
४१२	४	हता	हिता		१२	स्यत्	स्येत्
४१४	१०	भक्ष	अक्षु	४३७	५	थ	थं
	१६	थवि	थंवि	४३८	५	यत	यत्
४१५	५	मण्हित	मण्डितं	४३९	५	कुरू	कुरु
	७	जाव	जीव		६	रूं	रु
	८	पार	परि		१४	णिना	णिनां
	१४	ताद्घा	तोद्घो	४४०	२	षा	षो
	१५	वेदाव	वेदवि		७	छेशे	देशे
	१५	महाघर	महीधर		७	दिर्भ	दिभ
	१६	मेषा	मेषो		१०	व, भोः	वै, भोः
४१६	८	तर्वेदि	तमवैदि	४४१	२	लाग्रय	लाग्नेय
४१७	९	श्रृं	श्रु		३	द्वित्व	द्विस्व
४१८	४	व्या	व्य		४	अग्र	अग्रे
४१९	३	णनि	णानि	४४२	२	ष्टया	ष्ट्या
	५	ति	वि		११	धन	धानं

पृ०	पं०	अशु०	शु०	पृ०	पं०	अशु०	शु०
	१३	न पूर्वोक्तं	पूर्वोक्तं चापि	४६३	१	द्व	द्वं
४४३	३	यय	य	४६५	१३	तरम्	तरद
४४५	८	बतां	बतां	४६७	८	च्यत	च्येत
४४६	२	सर्वेम	सर्वेमं	४६८	५	एव	एवं
	७	प्रयलो	प्रयल्नो	४६९	९	सज्ञ	संज्ञ
	१३	कृतं	कृतम्	४७१	५	सासा	सा
	१४	यल	यत्न	४७५	६	क्षात्र	क्षेत्र
४४७	४	कत्तृत्व	कर्त्तृत्व	४७६	७	ढेना	ढैनां
	५	कृनेः	कृतेः	४७८	१०	योद्ध	योर्द्ध
	५	नात	नात्		११	स्याधा	स्यावधा
	५	स्वा,गा,रा,	स्वो,गो,रो,	४७९	९	समा	सामा
	१०	त सु	तः सु	४८३	१	सूर्य	सूर्यं
	१०	कष	कर्ष		६	दृष्ट	द्रष्टृ
४५०	२	सूक्ष	सूक्ष्म	४८४	३	अग्नि	अग्ने
४५१	११	तत्ल	तल्ल	४९१	८	नुप	नृप
४५२	६	शाध	शोध		१३	दृष्टा	द्रष्टा
४५३	२	ढ़ि	ढि	४९२	१	दश	दर्श
	१६	मव	सव	४९३	७	छदा	छन्दा
	१०	दित्वा	दितत्वा	४९४	८	आका	ओका
४५४	१०	तुभू	तुर्भू	४९५	२	व	व (अन्यत्रापि)
४५६	६	रमो	रसो		६	द्वर्थं	द्वोऽर्थं
४५७	३	रम	रम्	४९६	५	त्या	त्त्या
	८	पल्ला	यल्ला	४९८	६	त्रिशद्	त्रिंशद्
४५८	३	तिह	तिह्	४९९	२	ताना	तानां
४५९	४	अयं	इवं		९	,,	,,
	७	णति	णाति		११	सुश्र	शुश्र
४६१	११	नम	तम्	५००	४	मला	मंलो
	१२	शष्टा	शिष्टा	५०१	१२	रम	रमे
४६२	१	भव	भाव	५०३	१०	तनि	तन्ति
	१०	पुंल्लि	पुंलि	५०४	१५	मध्या	माध्य

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५०७	७	महा	माहा		१३	साना	सना
	११	र	र:	५४६	११	बधं	विधं
५०९	३	अमृ	अनू	५४९	९	पक्षा	पक्षो
५११	५	मन:	मान:	५५२	३	भिदे	भिदें
५१२	१०	ऽ	×	५५३	१	नि	नि:
५१७	११	पति	पयति	५५७	१३	बिना	विणा
५१८	२	नश्च	नञ्च	५५९	४	कृतिक	कृतीक
५१८	२	दु	दुं	५६१	२	वृत्या	वृत्त्या
५१९	११	मध्मे	मध्यमे	५६३	१०	नोऽ	नो अ
	१५	घातनै	घातेनै	५६५	६	विधिः	विधौ
५२२	७	बिग्रह	विग्रह	५६६	९	श्रा	त्र
५२३	९	बा	वा ऽऽ		११	कत्त	कर्त्तृ
	४	दुप्य	दप्य		१४	दृष्ट	द्रष्ट्
५२४	५	रेंव	रेव	५६७	८	राव्य	राख्य
	७	दोना	दीनां	५६९	१४	धम	धर्म
५२७	१	रूढस्त्व	रूढत्व	५७२	२	नाथ	नार्थ
	४	तु तात्	तु व्यर्थतात्	५७५	९	देन्य	दन्य
५२९	१	व्यव	व्यव	५७८	१	गणा	गण
५२९	११	एष	एषः			**पूर्वभागे**	
५३२	५	नेश्वररस्य	नेश्वरस्य	६	१३	दु	द्
५३४	११	घर्ष्यं	घृण्यं	१८	१६	खण्डनं	मण्डनं
५३५	२	णनि	णानि			**उत्तर भागे**	
५३८	१३	दे	दो	५८१	१२	प्राकवाक्	प्राग्वाक्
५३९	१	स्वोक्ति,विरु	स्वोक्तिविरु	२४	३	लाच्छन	लाञ्छन
	११	बर्तंत	वर्त्तत	१४२	१२	गृह्याश्च	गृह्यांश्च
५४०	२	दृक्ष्य	द्रक्ष्य			**हिन्दी भाग**	
	१२	सस्त	सन्त	१	६	गयें	गये
५४२	२	ढ़	ढ	४	४	ण	र्ण
५४४	९	नोद्य	नोऽ	४	१५	लपा	ल-पा
	१३	व्यनघु	न व्यघु	६	८	हीं	हीं

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
९	१०	रूप	+	१२५	१३	छन्द	छन्द:
१०	१	बि	वि	१२६	१५	र्तीवे	र्तीवे-वे
११	३	ही	हीं	१२९	१४	मा०	भा०
१४	७	वदा	वंदा	१३१	१०	विषा	विष
	१४	लों	लो	१३२	९	ह्य	ह्म
१५	७	डय	ड्य	१३४	९	अनुष	अनूषि
१६	१	र	रा	१३६	४	हीं	हीं
१७	१५	मे	मे	१३७	१३	शङ्का	शङ्का
२०	१	त्या	इत्या	१३९	१४	सां, प्रणा	सा, प्रमा
२५	४,६	णदि	णादि	१४०	५	साक्षिन	साक्षिन्
२६	७	ब,	वं	१४३	८	साम	साय
	१४	ददि	दादि	१५३	१	सग	सर्ग
२९	६	बि	वि	१६१	१४	सहश	सदृश
३२	३	पर	पद	१६६	१४	सुप्र	सुप्त
३३	१	द्यव	द्येव	१६७	१	सहश	सदृश
३४	८	हां	हाँ		४	उय	उप
३६	७	ल्लु	ल्लू	१६८	९	वैय्या	वैया
	१२	व	वं		१३	ऋक	ऋक्
४२	४	त्वो-पा	सत्त्वोपा	१६९	८	वात	बात
४४	१४	रयव	रवयव	१७५	५	अबि	अवि
४५	७	महद	महद्	१७६	१०	फंस	फँस
५१	२	य,	य-	१८२	५	ति	त
५२	१३	निरु	निरू	१८३	१३	ना	नां
५३	७	उदृ	उद्	१८५	१७	षङ	षड्
५७	अनेकत्र	ब	व	१८७	१५	अचित	अचेत
६८	६	त्रि	त्ति	१८८	४	भह	भट्ट
७९	२	,,	×		६	संज्ञाया	संज्ञा
९३	१८	ड	×	१९०	१३	चादौ	यादौ
९७	६	पहुंचा	पहुंच	१९२	१	कुण्ठित	कुण्ठिव
१०७	१५	ह	हैं		७	बि	वि

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	५	मर्थी	मर्थ्यं	२७७	१४	विवेक	विवेकी
१९९	१७	अवि	आवि	२८९	१३	तापाडि	तपाण्डि
२००	१०	भविक	भाविक	२९७	१	ब्रह्म	ब्रह्म
२०१	१३	राया	रामा	३००	१३	या	यः
२१२	१२	उमय	उभय	३१८	१३	दित्वा	विदित्वा
२१५	९	है	है !	३२०	१२	परात	परात-
२१६	९	शोभित	शोभते	३२५	१	त	न्
२२०	१०	बेग	वेग	३२६	१	प	पं
२२२	२	चयादि	चादि	३३०	२,३	दवो, सव	वेदा सर्व
२२३	१	थ,ाव,न,ओ-यँ,	वि,ने,ओं	३३५	२	महत	महत्
२२७	६	क	के	३३९	१	वाण	वारण
२८८	३,४	संज्ञ	संज्ञ		७	एसा	ऐसा
२३१	४१	पृष्ट	पृष्ठ	३४६	७	वत	वत्
२३६	१७	ही	×	३५०	४,७	म, हा	में, हो
२३७	९	तथा	यथा		८	घात	घाती
	१०,	कणदमुनि,	×		१४	कल	कले
	११	के	कणादमुनि के	३५१	१२	स्रा	स्रो
२४०	१७	भुत	भूत	३५६	३	षरि	वरि
२४१	६	मान	मान्	३६५	८	नवीत	नवीन
२४२	११	पौर्वापर्य	पूर्वापर	३६९	१०	णव	र्णव
२४३	१७	फिर	×	३[illegible]७	५,८	ण, हा	र्णं, हो
२४५	४	रहा	रहा है	३९४	१२	कः	कः ?
	१२	सघित	साघित		११	है	है ?
२७२	१	आदियों	आदिकों	४१३	१०	बह्य	बाह्य
	४	क्योंकि	×	४१७	५	हर्ष्या	ईर्ष्या
२७५	१०	द्, द	द, द्	४२७	८	शङ्क	शङ्कु
				४२९	५	संस्कृत	संस्कृति
				४३४	९	वह	यह
				४४१	६	यति	यित
				४५३	६	मावो	भावो
				४५७	१३	ष्ट्य	ष्टय
				४७१	१	दुर्घन्ध	दुर्गन्ध

हिन्दी भाग में

ये कुछ अशुद्धियां निकली हैं इनके अतिरिक्त और भी अशुद्धियां (ँ, ब और व, म् और म, ह्य और ह्म, घ और ध, ं, त्व और त्त्व, हलन्त तथा मात्राओं की) ढूंढने पर मिल सकती हैं। इनको पाठक महानुभाव 'गच्छतः स्खलनं क्वापि' उक्ति के अनुसार उदारता से दृष्टिदोष अथवा मुद्रण दोष समझ क्षम्य समझेंगे। —सम्पादक